

महाप्रज्ञ-दर्शन

एक जैन आचार्य के अर्ध-शताब्दी के चिन्तन का
समग्र विश्लेषण

प्रोफेसर डॉ० दयानन्द भार्गव

सम्पादन :

मुनि धनञ्जय

कन्हैयालाल फूलफगर

जैन विश्व भारती

लाडनू-३४१३०६ (राजस्थान)

© जैन विश्व भारती, लाडनू-३४१३०६ (राजस्थान)

महाप्रज्ञ-दर्शन

लेखक : डॉ० दयानन्द भार्गव

सम्पादन : मुनि धनञ्जय
कन्हैयालाल फूलफगर

आवरणपृष्ठ : मञ्जु नाहटा

प्रकाशक : जैन विश्व भारती, लाडनू-३४१३०६ (राजस्थान)

प्रथम संस्करण : अक्टूबर, २००२

ISBN : 81-7195-086-8

मूल्य : दो सौ रुपये

मुद्रक : शान्ति प्रिन्टर्स एण्ड सप्लायर्स, दिल्ली दूरभाष : २७५५५०७

Mahāprajña-Darśana

Author : Dayanand Bhargava

Rs. : 200/-

मेरे जैन-विद्या के प्रथम गुरु
क्षुल्लक श्री जिनेन्द्र जी वर्णी
की
पुण्य-स्मृति
को...

दयानन्द भार्गव



:: अनुक्रम ::

सम्पादकीय (ix)

लेखक की ओर से (xiii)

दृष्टि — (१-१३)

भावभूमि — (१४-४२) दृष्टि का भ्रम—तीन रत्न—मोक्ष : हमारे जीवन का सहज लक्ष्य—अध्यात्म के बिना खोखली है समाज सेवा—सत्य का आवरण है कषाय—आत्मज्ञान कोई भूलभुलैया नहीं है—प्रारम्भ करें शरीर से—शरीर और मन का सम्बन्ध—आस्तिकता और नास्तिकता—क्वांटम सिद्धान्त और प्राण-तत्त्व—पस्परोपग्रहो जीवनाम्—अन्धविश्वास नहीं है श्रद्धा—अहिंसा की सूक्ष्मता—अहिंसा की प्रासंगिकता—सूक्ष्म की शक्ति—चेतन का जड पर प्रभाव—बाह्य संसार एक: अन्दर के संसार सबके अलग अलग—अपने शुद्ध रूप की झलक—अपना सत्य स्वयं खोजें—तक्का तत्थ न विज्जइ—साक्षी केवल देखता ही नहीं बदलता भी है—शरीर भी संस्कारों का वाहक है—शरीर के मरने पर विचार नहीं मरता—सूक्ष्म से स्थूल की ओर—वार्धक्य जरा नहीं है—अभिमान विकास को रोकता है—तपसा निर्जरा—प्रवृत्ति में निवृत्ति—अखण्ड है काल और कालातीत है समता—कालचक्र का आवर्तन—अजरता अमरता का सूत्र—

व्यवहार खण्ड

- समाज** — (५६-६७) सामाजिक दृष्टि का उद्देश्य—व्यक्ति और समाज — मनःस्थिति और परिस्थिति — न्यायव्यवस्था—व्यक्तिवादी दृष्टिकोण—व्यक्ति और समाज की सापेक्षता—अध्यात्म और समाज—विधायक मूल्य—शिक्षा और समाज—समाज के बिना व्यक्ति का विकास असम्भव—अध्यात्म का कार्य शिक्षा—समाज व्यवस्था : जैनपरम्परा के परिप्रेक्ष्य में—पूँजीवाद—पूँजीवाद बनाम श्रम—अर्थ का केन्द्र में आना ही अनर्थ की जड़—उपभोक्तृवाद की विकृतियां—लोकतंत्र की समस्यायें—समाजवाद—समाजवाद की समीक्षा—वर्णाश्रम व्यवस्था—सिद्धान्त और व्यवहार का भेद—वर्णाश्रम व्यवस्था का सामाजिक-आर्थिक तंत्र—मुद्रा का प्रचलन और काले धन की समस्या—गृहस्थ आश्रम का महत्त्व—आश्रम व्यवस्था ।
- व्रती समाज—अहिंसा—व्रतों में अतिचार—सत्य अणुव्रत—अंचौर्य अणुव्रत—ब्रह्मचर्य अणुव्रत—अपरिग्रह अणुव्रत—भोगोपभोग परिमाण व्रत — श्रम — स्वावलंबन — वैयावृत्य — स्थिरीकरण—वात्सल्य—आवश्यकता नयी व्यवस्था की—केन्द्र है मनुष्य—परिग्रह और सुख की व्याप्ति नहीं है—समाजवाद भी अपरिग्रह नहीं ला पाया—स्वदेशी गरिमा—समाजवाद के साथ अध्यात्म जुड़े—परिग्रह सम्माननीय नहीं है—जन प्रतिनिधियों का दायित्व—स्वार्थ को परमार्थ में बदलें—आज धन केन्द्र में है—विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था और मानवीय संस्पर्श—उपसंहार—

महाप्रज्ञ उवाच

(६८-१०३)

संयम

- (१०५-११५) अध्यात्म और काम—ऊर्जा और काम—ध्यान और काम—जप—काम के हेतु—आसक्ति का मर्म—इच्छा परिमाण—निम्नगामी को ऊर्ध्वगामी बनायें—आहार संयम—स्पन्दनों का पक्ष प्रतिपक्ष—इन्द्रियों के पार—योग और तारुण्य—

महाप्रज्ञ उवाच

(११६-१२१)

- पर्यावरण** — (१२३-१३१)—प्रकृति और मानव-प्रकृति के नियम-हम नया कच्चा माल पैदा नहीं कर सकते-विकास की आत्मघाती अवधारणा-नया परिदृश्य:यन्त्रीकृत मानव-गरीबी का अर्थ-साधन शुद्धि-
- महावीर उवाच** (१३२-१५१)
- महाप्रज्ञ उवाच** (१५२-१५४)
- अहिंसा** — (१५५-१७४)—हमारी आवश्यकता और अहिंसा-क्यों होती है हिंसा-हिंसा का शमन ध्यान के द्वारा-आहार और अहिंसा-श्रम और अहिंसा-अनाग्रह और अहिंसा-अभय और अहिंसा-अहिंसा व्यवहार में सहायक है-भेद में अभेद-निर्धनता की समस्या-अहिंसा और सामर्थ्य-रागद्वेष को पहचानें-प्रदर्शन निरर्थक है-न भोग, न दमन-हिंसा दुख है-अहिंसा और अपरिग्रह की युति-पर्यावरण और अहिंसा-क्रूरता का दृश्य-शस्त्रीकरण के आंकड़े-अहिंसा : कुछ मिथ्याधारणायें-
- महाप्रज्ञ उवाच** (१७५-१७७)
- विज्ञान** — (१७९-२०१)—देश-काल-युति-पदार्थ की लम्बाई और काल दोनो सापेक्ष हैं-जैनसम्मत सापेक्षता-सापेक्षता : बौद्ध और वेदान्ती दृष्टिकोण-विज्ञान सम्मत सापेक्षता-प्रकाश की गति की निरपेक्षता-द्रव्यमान की वृद्धि-काल की सापेक्षता-पदार्थ और ऊर्जा की युति-निष्कर्ष-द्वन्द्वों की दुनिया पाप-पुण्य - ज्ञान - कर्म - प्रवृत्ति - निवृत्ति - विम्ब - प्रतिविम्ब - दुःख-सुख-यथा आगत तथा गत-भेदाभेद-व्यक्ताव्यक्त-निश्चय-व्यवहार-पूर्णता-अपूर्णता-जन्म-मृत्यु-तृतीय नेत्र-परिस्थिति-मनस्थिति-जड-चेतन-
- महाप्रज्ञ उवाच** (२०२-२०३)
- शिक्षा** — (२०५-२१७)—वर्तमान शिक्षा जानकारी दे रही है संस्कार नहीं-शिक्षा का अवमूल्यन हुआ है-पशु नहीं है मनुष्य-विज्ञान की सीमा-दर्शन और विज्ञान-शिक्षा का उद्देश्य : चतुर्मुखी विकास-
- महाप्रज्ञ उवाच** (२१८-२२२)
- साहित्य** — (२२३-२३५)—काव्यालोचन-
- महाप्रज्ञ उवाच** (२३६-२३७)

परमार्थ खण्ड

- समाधान — (२४१-३३८) समस्या-ज्ञान-अहिंसा-साधना-रूपान्तरण-
भाव-सूक्ष्म-जगत्-मन-अन्तराय-शारीरिक बाधा-विभूति-
- एक उपनिषद् — महाप्रज्ञ-जैनेन्द्र-संवाद (३३६-३५०)
- विद्वानों की दृष्टि में आचार्य महाप्रज्ञ (३५१)

संपादकीय

ईस्वी सन् १९६४, पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी का दिल्ली में चातुर्मासिक प्रवास। उन दिनों जैन भारती नामक मासिक पत्र में ऋषभायण महाकाव्य का धारावाहिक प्रकाशन हो रहा था। ऋषभायण जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभ के जीवन-दर्शन पर केन्द्रित महाकाव्य है। इस काव्य के सर्जन की मूल प्रेरणा आचार्य श्री तुलसी की यह आकांक्षा रही—‘रामायण की तरह ऋषभायण का भी निर्माण होना चाहिए।’ उन्होंने इस कार्य की संपूर्ति का दायित्व आचार्य श्री महाप्रज्ञ को सौंप दिया। अपने गुरु के इंगित आकार के अनुरूप अपने कार्य की दिशा का निर्धारण आचार्य महाप्रज्ञ का जीवन-व्रत रहा। इसीलिए गुरुदेव तुलसी की चाह आचार्य महाप्रज्ञ की चाह बन जाती, गुरुदेव तुलसी का संकल्प आचार्य महाप्रज्ञ का संकल्प बन जाता। गुरु-शिष्य की इच्छा और संकल्प की इस एकात्मता में द्वैत में अद्वैत का साक्षात्कार होता था।

इस अद्वैत संकल्प की निष्पत्तियों का लेखा जोखा करना प्रस्तुत प्रसंग में न प्रासंगिक है और न अपेक्षित। ऋषभायण का सर्जन पूर्ण होने से पूर्व ही वह जैन भारती में क्रमशः प्रकाशित होने लगा। जैन भारती के अगस्त (सन् १९६४) अंक में ऋषभायण का जो अंश प्रकाश में आया, उसमें वसंतोत्सव का सजीव एवं मर्मस्पर्शी चित्रण था। डॉ० दयानन्द भार्गव के हाथों में जैन भारती का वह अंक पहुंचा। ऋषभायण में वसंतोत्सव का वर्णन पढ़कर डॉ० भार्गव भावविभोर हो गए। अपने मन में उभरे भावों को रोकना उनके लिए अशक्य बन गया। उस अंक में छपे दस-बारह पद्यों पर उन्होंने एक समीक्षात्मक निबंध लिख डाला।

वह निबंध जैन भारती में प्रकाशित हुआ। आचार्य श्री तुलसी ने उस निबंध को पढ़कर न केवल प्रसन्नता व्यक्त की किन्तु साधु-साध्वियों की गोष्ठी

के मध्य उस निबंध का वाचन कराया। पूज्य गुरुदेव ने कहा—“डॉ० दयानन्द भार्गव की दृष्टि बहुत पैनी है। उनमें कथ्य के मर्म को पकड़ने की क्षमता है। समीक्षा का विशिष्ट कौशल है। अपने भावों को शब्दों का सुन्दर परिधान देने में निपुण हैं, जिससे उनका वक्तव्य और लेखन पाठक के दिल को छू लेता है।” गुरुदेव ने प्रस्तुत निबंध के लिए डॉ० भार्गव का साधुवाद देते हुए कहा—साधु-साध्वियों को भी ऐसे निबंध पढ़ने चाहिए। इससे उनकी बौद्धिक क्षमता में नए उन्मेष आ सकते हैं। उसी समय गुरुदेव श्री तुलसी ने इस ओर ध्यान आकृष्ट किया—डॉ० भार्गव ने ऋषभायण के एक अंश पर जो लिखा है, वह यहीं तक सीमित न हो जाए। वे आचार्य महाप्रज्ञ के साहित्य का समग्र दृष्टि से समीक्षात्मक विश्लेषण करें, यह अपेक्षित है।

डॉ० दयानन्द भार्गव तक पूज्य गुरुदेव का वह संदेश पहुंचा। उन्होंने वर्तमान में चल रहे अपने कार्यों की संपूर्ति के पश्चात् इस कार्य को करने का संकल्प व्यक्त किया।

अपने संकल्प के अनुरूप डॉ० भार्गव ने आचार्य महाप्रज्ञ के विशाल साहित्य का अवगाहन शुरू कर दिया। वे गहन अध्ययन, अन्वेषण, तुलनात्मक अनुशीलन तथा समीक्षात्मक विश्लेषण करते रहे। चिन्तन मंथन से नए तथ्य उपलब्ध हुए और अपने अध्ययन, अनुसंधान की महनीय फलश्रुति को 'महाप्रज्ञ-दर्शन' शीर्षक ग्रंथ के रूप में तैयार कर श्रद्धेय आचार्य श्री महाप्रज्ञ के चरणों में उपहृत कर दिया। पूज्यवर के निर्देश से उस ग्रन्थ के आद्योपान्त पारायण का हमें सौभाग्य मिला।

दृष्टि, भाव-भूमि, व्यवहार, परमार्थ इन चार उप शीर्षकों में विभक्त इस ग्रंथ में 'महाप्रज्ञ-दर्शन' का एक अभिनव रूप सामने आया है। आचार, विचार, व्यवहार, दर्शन, शिक्षा आदि के क्षेत्र में आचार्य महाप्रज्ञ का जो विशद चिन्तन रहा है, उसे बहुत थोड़े शब्दों में समेट कर 'गागर में सागर' की उक्ति को चरितार्थ किया है।

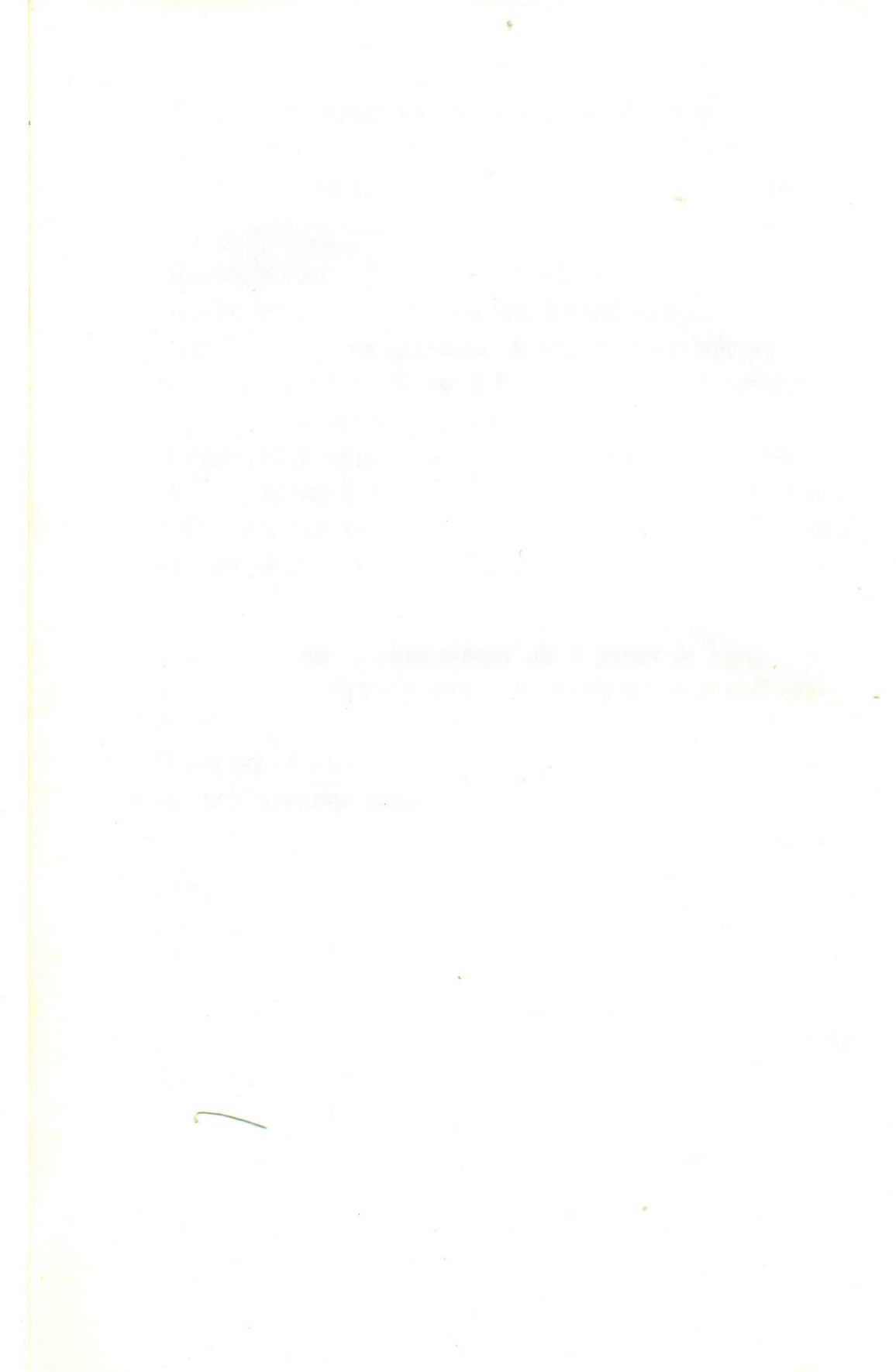
डॉ० दयानन्द भार्गव चिन्तक हैं, विचारक हैं, प्रखर मेधावी प्रज्ञावान् साधु पुरुष हैं। वे कहने से अपनी लेखनी नहीं चलाते। जब तक बात उनके हृदय में उतर नहीं जाती, तब तक वे कलम उठाना तो बहुत दूर की बात है, वे उस ओर झाँकते तक नहीं। बात उनके कलेजे के आर-पार चली जाती है तब वे ऊब कर नहीं, पूरे मन से डूब कर लिखते हैं। उन्होंने जिस अतल गहराई में उतर कर इस ग्रन्थ का सर्जन किया है, वह भारतीय वाङ्मय की अमूल्य

धरोहर बन गया है। यह ग्रन्थ अपने आप में इतना परिपूर्ण और समृद्ध है कि संपादन की कहीं कोई अपेक्षा नहीं थी। फिर भी डॉ० भार्गव के आग्रह और पूज्यवर के निर्देश से हमें इस कार्य से जुड़ने का अवसर मिला, यह हमारे लिए आत्मतोष और प्रसन्नता का विषय है।

आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में "दयानन्द भार्गव विद्वान् हैं यह सब जानते हैं। किन्तु वे जितने बड़े विद्वान् हैं उतने ही बड़े साधक हैं, इस बात को शायद बहुत कम लोग जानते हैं। भार्गव जी अध्ययनशील हैं। वे जितने बड़े विद्वान् हैं साथ-साथ में उतने ही बड़े विद्यार्थी हैं, छात्र हैं, जिज्ञासु हैं। जिस व्यक्ति की जिज्ञासा समाप्त हो जाती है वह दस वर्ष का भी बूढ़ा हो जाता है, और जिसमें जिज्ञासा विद्यमान रहती है वह सौ वर्ष का होकर भी शिशु रहता है, जवान रहता है। हमारे जीवन का संचालन जिज्ञासा के द्वारा ही हो रहा है। इन पांच वर्षों में डॉ० भार्गव ने हमारे साहित्य पर इतना गहन अध्ययन किया है और इतना लिखा है कि जब सामने आएगा तो कुछ नया ही रूप लेकर आएगा।"

आचार्य श्री महाप्रज्ञ ने डॉ० दयानन्द भार्गव के बारे में जो विश्वास व्यक्त किया है, वह शत-प्रतिशत सही प्रमाणित हुआ है। ग्रन्थ की समीक्षा और समालोचना के लिए पर्याप्त समय, सघन अध्यवसाय और सूक्ष्म दृष्टि की अपेक्षा है। यह कोई दूसरा दयानन्द भार्गव ही कर सकता है। इस ग्रन्थ के पाठक और समीक्षक को इस सचाई का अवश्य साक्षात्कार होगा, यह असंदिग्ध भाव से कहा जा सकता है।

—संपादक



लेखक की ओर से

भूमिका के रूप में जो कुछ मुझे कहना था वह ग्रन्थ की 'भावभूमि' में तथा उससे भी पहले "दृष्टि" शीर्षक के अन्तर्गत दी गयी तालिका में कह दिया गया है। यहाँ तो मेरे लिये उन व्यक्तियों के प्रति नामोल्लेख-पूर्वक कृतज्ञता ज्ञापित करना ही शेष रह जाता है जिनके सक्रिय सहयोग तथा उत्साहवर्धन के बिना इस ग्रन्थ का निर्माण मेरे लिये दुष्कर हो जाता।

इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि तैयार होते ही मैं उसे लेकर सर्वप्रथम **आचार्य महाप्रज्ञ** के कर कमलों में अर्पित करने पहुंचा। इदम्प्रथमतया ग्रन्थ की पाण्डुलिपि पर आचार्यश्री की ही कृपादृष्टि पड़ी। उन्होंने इसे प्रथम दृष्ट्या प्रकाशन योग्य मानकर **मुनि श्री धनञ्जय जी** को अवलोकनार्थ सौंप दिया। अब मुनि श्री धनञ्जय जी तथा मुझ पर सदा स्नेह भाव रखने वाले **श्री कन्हैयालाल जी फूलफगर** इसके सम्पादन का गुरुतर भार वहन कर रहे हैं। इधर बहुत दिनों से आचार्यश्री के साहित्य के सम्पादन का भार मुनि श्री धनञ्जय ही संभाल रहे हैं। श्री कन्हैयालाल जी फूलफगर अभी अभी आचार्य महाप्रज्ञ पुरस्कार से सम्मानित हुए हैं जो इस बात का सूचक है कि उन्होंने पिछले तीन दशकों में आचार्य महाप्रज्ञ के वाङ्मय की श्रावकों में सर्वाधिक सेवा की है। ये दोनों मेरे ग्रन्थ के सम्पादक बन रहे हैं। इससे मैं अपने को सम्मानित अनुभव करता हूँ। इन दोनों पर, और मुझ पर भी, जो आचार्यश्री का वरद हस्त है, उसके कारण हम तीनों ही अभय भाव में रहते हैं, जिस अभय भाव के बिना आचार्यश्री पर कलम उठाना संभव नहीं है।

ग्रन्थ के निर्माण के समय मेरे साथ स्वाध्यायशील समणीपंचक ने अनुकम्पा पूर्वक ग्रन्थलेखन हेतु सामग्री-संकलन में मेरा अपूर्व सहयोग किया। वे पाँच समणियां हैं—**समणी मंगलप्रज्ञा, समणी चैतन्यप्रज्ञा, समणी ऋजुप्रज्ञा,**

समणी शारदाप्रज्ञा तथा समणी ऋतुप्रज्ञा। ये समणियां मेरे कृतज्ञता की अपेक्षा मेरी 'वंदामि नमंस्सामि' की पात्र हैं। समणी मंगलप्रज्ञाजी ने तो प्रूफरीडिंग के मेरे प्रमादों का सशोधन कर वह दुर्लभ कार्य किया जो किसी अन्य के द्वारा होना कठिन ही था।

मेरे शोधछात्र श्री उम्मेदसिंह बैद ने मेरे बोले हुए को लिपिबद्ध किया तथा मेरी शोधछात्रा श्रीमती मञ्जु नाहटा ने आवरण पृष्ठ बनाया। मेरे पूर्व शोधछात्र डॉ० मोहनचन्द्र एवं डॉ० अनेकान्त जैन ने ग्रन्थ का अन्तिम प्रूफ देखा। इन चारों को मेरा आशीर्वाद। श्री शिवकुमार वर्मा, शान्ति प्रिन्टर्स एण्ड सप्लायर्स, दिल्ली को ग्रन्थ को हृदयग्राही रूप में मुद्रित करने के लिये आभार।

ग्रन्थ की पाण्डुलिपि दो वर्ष पूर्व तैयार हो गयी थी, प्रकाश में अब आ रही है। इस विलम्ब का भी एक लाभ हुआ। पाण्डुलिपि रूप में ही यह ग्रन्थ एक हाथ से दूसरे हाथ में जाता रहा और उनका आशीर्वाद पाता रहा। जैन विश्व भारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय) के प्रथम कुलाधिपति जैनविद्या-मनीषी स्वर्गीय श्री श्रीचन्द्र जी रामपुरिया ने इस ग्रन्थ को 'महाप्रज्ञ की सारी चिन्तन-धारा को हृदयग्राही बनाने वाला' माना तो उसी संस्था के तात्कालिक कुलपति प्रोफेसर भोपालचन्द्र लोढ़ा ने इसे आचार्य महाप्रज्ञ के योगदान का समीक्षात्मक मूल्यांकन करने वाला घोषित किया। प्राच्यविद्या के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त लाल बहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ (मान्य विश्वविद्यालय) दिल्ली के कुलपति प्रोफेसर वाचस्पति उपाध्याय ने लिखा कि 'यह महान् ग्रन्थरत्न सुधी समाज में समादृत होगा' तो सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के कुलपति डॉ० अभिराज राजेन्द्र मिश्र को इस ग्रन्थ की 'स्थापनार्थे इदमग्रथमतया प्रवर्तित होते हुए भी अन्तिम' प्रतीत हुई।

मैंने जैन विश्वभारती संस्थान के जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म दर्शन विभाग के प्रोफेसर एवम् अध्यक्ष पद पर चार वर्ष से अधिक काल तक कार्यरत रहते हुए इस ग्रन्थ का निर्माण किया तो मेरे सहकर्मी इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि को देखकर हर्षित क्यों न होंगे? प्राकृत एवं जैनागम विभागाध्यक्ष, विश्वविद्यालय के कुलसचिव डॉ० जगताराम भट्टाचार्य ने इस ग्रन्थ को 'आचार्य महाप्रज्ञ के चिन्तन को एक अपूर्व शैली में प्रस्तुत करने वाला' बताया। विश्वविद्यालय के पूर्व कुलसचिव एवम् अहिंसा-शांति शोध विभाग के अध्यक्ष डॉ० बच्छराज दुगड़ ने ग्रन्थ की समीक्षात्मक पद्धति को सराहा। उनके ही विभाग के

डॉ० अनिलधर ने इसे *ज्योति स्तम्भ* संज्ञा से अभिहित किया। पत्राचार एवं दूरस्थ शिक्षा के समन्वयक डॉ० आनन्द प्रकाश त्रिपाठी ने ग्रन्थ को *सचमुच एक महामानव की अन्तःप्रज्ञा का साक्षात्कार कराने वाला* माना। जीवन विज्ञान के तत्कालिक विभागाध्यक्ष डॉ० जे.पी.एन. मिश्र ने विश्लेषण को *अत्यन्त व्यवस्थित एवं सरस* बताया। प्राकृत एवं जैनागम विभाग के सहाचार्य डॉ० हरिशंकर पाण्डेय के मत में ग्रन्थ में विवेचन बड़े ही *सुन्दर एवम् आकर्षक* रूप में किया गया है। उनके ही विभाग के डॉ० जिनेन्द्र जैन का मानना है कि यह ग्रन्थ *शोधार्थियों के लिये चिन्तन के नये विश्लेषणात्मक स्वरूप* को प्रस्तुत करता है। जीवन विभाग के डॉ. बी.पी. गौड़ के मत में भी इसका *विपुल उपयोग शोध कार्यों में* होगा। समाज कार्य विभाग की सहायक प्रोफेसर श्रीमती प्रतिभा जैन इस ग्रन्थ को *भारतीयों को अपनी जड़ों से जोड़ने का एक सशक्त माध्यम* मानती हैं। जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म दर्शन विभाग के वर्तमान अध्यक्ष डॉ० अशोक जैन के मतानुसार *ग्रन्थ के निष्कर्ष सभी के लिये विचार स्रोत बनकर मानव कल्याण की दिशा में उत्कृष्ट भूमिका* निभायेंगे।

समाज कार्य विभाग के डॉ० प्रधान कहते हैं कि यह ग्रन्थ है *A Historical landmark, which adds to the rich Jaina philosophy* और अंग्रेजी की सुधी प्राध्यापिका सुश्री ममता गुलेरिया ग्रन्थ को *Thought provoking and insightful* मानती हैं।

ग्रन्थ के प्रकाशन के पूर्व ही इस ग्रन्थ पर इतनी विपुल पुष्प-वर्षा विद्वानों की आचार्य महाप्रज्ञ के प्रति अगाध श्रद्धा का परिणाम है, कर्तृत्व का कोई अहंकार अपने ऊपर ओढ़ने की आत्म-सम्मोहन की मनःस्थिति मेरी बिल्कुल नहीं है।

फिर अभी तो मुझे बहुत कुछ करना है। आचार्य महाप्रज्ञ पर नये सिर से एक ग्रन्थ के निर्माण में लगा हूँ। इस बार ग्रन्थ अंग्रेजी में होगा। पंचपरमेष्ठी मेरे सारस्वत साधना के शुभोपयोग में अपनी शरण प्रदान करते रहें—यही प्रार्थना है। इस ग्रन्थ के निर्माण-काल में जो आनन्द का भाव लेखक में बना रहा, वह आनन्द-भाव इसके पाठकों में भी सङ्क्रमित हो—इस शुभाशंसा के साथ—

दृष्टि

यथादृष्टिस्तथा सृष्टिः

दृष्टि

आचार्य महाप्रज्ञ के साहित्य के स्वाध्याय की एक महत्त्वपूर्ण निष्पत्ति है—दृष्टि-परिवर्तन। हमारे मानस में कुछ मिथ्या धारणाएं जड़ जमाये रहती हैं। विचार करने पर पता चलता है कि हमारी वे धारणाएं भ्रान्त थीं। जब तक उन मिथ्या धारणाओं का निराकरण न हो और सम्यक् धारणा उनका स्थान न ले ले, तब तक वे मिथ्या धारणाएं ही हमारे जीवन को संचालित करती रहती हैं। परिणाम होता है—कुण्ठा, सन्त्रास और विरसता। जब सम्यक् धारणाएं मिथ्या धारणाओं के स्थान पर आती हैं तो जीवन की दिशा भी बदल जाती है और परिणाम होता है—प्रफुल्लता, अभय और सरसता। आचार्य महाप्रज्ञ के साहित्य का अनुशीलन करने से जो मुख्य दृष्टि-परिवर्तन हमारे सम्मुख आये, उनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है। पाठकों की सुविधा के लिए हम इस विवरण को विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत दो कॉलम में विभक्त करके देंगे। प्रथम कॉलम में हम वे धारणा देंगे जो सामान्यतः प्रचलित रहती हैं और द्वितीय कॉलम में हम वह धारणा देंगे जो आचार्य महाप्रज्ञ का साहित्य पढ़ने के अनन्तर बनती हैं—

भाव-भूमि

प्रचलित अवधारणा

1. सत्य उतना ही है जितना इन्द्रियों से प्रतीति में आता है।
2. हम जो जानते हैं वही मानते हैं।
3. हम जो सोचते हैं वही करते हैं।

सम्यक् अवधारणा

1. कुछ सत्य ऐसे भी हैं—और वे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं—जो इन्द्रियातीत हैं।
2. कभी-कभी हम जानते कुछ और हैं और मानते कुछ और हैं।
3. कभी-कभी हम सोचते कुछ और हैं तथा करते कुछ और हैं।

४. संसार के काम बिना बेईमानी के सिद्ध नहीं होते।
५. मोक्ष की साधना कुछ गिने-चुने लोगों के लिए है।
६. धर्म उनके लिए है जिन्होंने संसार छोड़ दिया है।
७. अध्यात्म एक हवाई चीज है, ठोस है समाज-सेवा।
८. हम सामान्य व्यक्ति हैं, सन्त नहीं। हमारा कार्य क्रोध, मान, माया और लोभ के बिना नहीं चल सकता।
९. आत्मज्ञान एक रहस्यमय चीज है।
१०. भोगोपभोग के पदार्थ हमें सुख देते हैं।
११. आत्मज्ञान के लिए शरीर के परे जाना होगा।
१२. शरीर अलग है, मन अलग है। क्रोध मन में आता है; कैंसर शरीर में होता है। इन दोनों का आपस में कोई संबंध नहीं है।
१३. नास्तिक वह है जो ईश्वर को नहीं मानता।
१४. शरीर का मुख्य घटक परमाणु है, उन्हीं से शरीर का निर्माण होता है।
४. अन्ततोगत्वा बेईमानी से होने वाले लाभ की अपेक्षा बेईमानी से होने वाली हानि कई गुणा अधिक होती है।
५. मोक्ष हम सबका जन्मसिद्ध अधिकार है।
६. धर्म संसारी पुरुषों के लिए भी आवश्यक है।
७. अध्यात्म के बिना समाज-सेवा बिना जड़ की बेल है।
८. क्रोध, मान, माया और लोभ भले कितने भी आवश्यक लगें, किंतु वे सत्य को ढकते ही हैं।
९. मैं स्वयं आत्मा हूँ। अपने को जानना ही आत्मज्ञान है।
१०. यदि हमारा मन अशान्त है तो हमें कोई भी पदार्थ सुख नहीं दे सकता।
११. आत्मा को जानने के लिए सबसे पहले शरीर को जानना होगा।
१२. मन के विकार ही शरीर में रोग रूप में परिणत होते हैं।
१३. नास्तिक वह है जो यह मानता है कि वह बुरा काम करके उसके फल से बच सकता है।
१४. शरीर में मुख्य स्थान स्पन्दन का है, ये स्पन्दन ही हमारी मनःस्थिति और शरीर की स्थिति का निर्धारण करते हैं।

१५. हमारा अस्तित्व हमारे शरीर तक सीमित है।

१६. हम सबका अस्तित्व अलग-अलग है। हम स्वयं में पर-निरपेक्ष रूप में स्थित हैं।

१७. श्रद्धा वह है, जहाँ तर्क नहीं है।

१८. धर्म अंध-विश्वासों पर टिका है।

१९. पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायु जड़ है। इन्हें सुख-दुःख नहीं होता।

२०. हमें दूसरों के सुख-दुःख से कोई प्रयोजन नहीं। हमें अपना ही सुख साधना है।

२१. जो जितना स्थूल है वह उतना शक्तिशाली है।

२२. चेतन और जड़ एक दूसरे को प्रभावित नहीं करते।

२३. पौष्टिक भोजन से शरीर पुष्ट होता है।

२४. एक-सी परिस्थिति में सबको एक-सा-ही अनुभव होगा।

१५. हमारा आभामण्डल हमारे शरीर के बाहर तक फैला है। वह आभामण्डल भी हमारे अस्तित्व का हिस्सा ही है और वह आभामण्डल शरीर से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।

१६. मुक्त आत्माओं को छोड़कर हम सब एक दूसरे से प्रभावित होते हैं।

१७. श्रद्धा वह है जो हमें दूसरों की अच्छाई के प्रति ग्रहणशील बनाती है।

१८. धर्म हमारे उन अंध-विश्वासों पर चोट करता है जिन्हें हम सहज ही सदा पाले रहते हैं।

१९. पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायु सजीव है, इन्हें भी सुख-दुःख होता है।

२०. दूसरों के प्रति क्रूरता का भाव हमें कठोर बना देता है और हमारी ग्रहण-शीलता समाप्त हो जाती है। ऐसी स्थिति में न हमें दूसरों के सद्भाव का लाभ मिलता है, न आशीर्वाद का।

२१. जो जितना सूक्ष्म है वह उतना अधिक शक्तिशाली है।

२२. चेतन और जड़ एक दूसरे से प्रभावित होते हैं।

२३. केवल भोजन ही हमारे शरीर को नहीं बनाता। हमारे शरीर के निर्माण में वह मनःस्थिति भी महत्त्वपूर्ण योगदान देती है जिस मनःस्थिति से हम भोजन करते हैं।

२४. एक-सी परिस्थिति होने पर भी सबके अनुभव भिन्न-भिन्न होते हैं।

२५. परिस्थिति की अनुकूलता और प्रतिकूलता निश्चित है।
२५. निषेधात्मक दृष्टिकोण अनुकूल को भी प्रतिकूल बना देता है। विधेयात्मक दृष्टिकोण प्रतिकूल को भी अनुकूल बना देता है।
२६. हम छोटे-बड़े गरीब-अमीर हैं।
२६. हम अपने शुद्ध रूप में न छोटे हैं न बड़े।
२७. हमें कोई अन्य व्यक्ति सत्य का दर्शन करा देगा।
२७. अपना सत्य स्वयं खोजना पड़ता है।
२८. हम विचार करके सत्य को जान लेंगे।
२८. सत्य वहाँ नहीं है जहाँ विचार ले जाता है। सत्य उस निर्विचारता में है जिस निर्विचारता में से विचार उत्पन्न होता है।
२९. पदार्थ को बदलने के लिए कुछ क्रिया करनी पड़ती है। केवल देखने-जानने से कोई परिवर्तन नहीं आता।
२९. क्रिया ऊपरी परिवर्तन ला सकती है। आन्तरिक परिवर्तन देखने-जानने से ही आता है।
३०. संस्कार मन में रहते हैं, शरीर में नहीं।
३०. शरीर भी संस्कारों का वाहक है।
३१. हमारी भावना पृथक् है; शरीर की स्थूल क्रिया पृथक् है।
३१. भावना से शरीर की स्थूल क्रिया प्रभावित होती है।
३२. हम सुख-दुःख के द्वन्द्वों में जीते हैं।
३२. सुख-दुःख के द्वन्द्व हमारे मन की उपज है। हम सुख-दुःख से परे हैं।
३३. हम निरन्तर बदल रहे हैं।
३३. हमारे अस्तित्व का दृश्य भाग बदलता है, साक्षी भाग नहीं।
३४. जैसे हम बूढ़े होते हैं वैसे कमजोर हो जाते हैं।
३४. कमजोर होना जरा है, परिपक्वता वार्धक्य है। अवस्था बढ़ने पर शरीर जीर्ण हो सकता है, किंतु परिपक्वता में वृद्धि होनी चाहिये।
३५. प्रतिष्ठा पाकर हमारा उत्साह बढ़ता है और उससे व्यक्ति को सफलता मिलती है।
३५. प्रतिष्ठा पाकर हम ये मान लेते हैं कि हम बहुत बड़े हैं; इससे हम पुरुषार्थ करना छोड़ देते हैं और हमारा विकास रुक जाता है।

३६. कष्टों से व्यक्ति निर्बल होता है। ३६. कष्टों से व्यक्ति निखरता है।
 ३७. शरीर के समाप्त होने पर हम ३७. शरीर के समाप्त होने पर भी हमारा
 समाप्त हो जायेंगे। अस्तित्व बना रहेगा।
 ३८. मुक्ति के लिए कर्म छोड़ना ३८. मुक्ति के लिए कर्म छोड़ना
 आवश्यक है। आवश्यक नहीं है। आवश्यक
 है—कर्म के प्रति जागरूकता।
 ३९. काल सीधी रेखा के रूप में चलता ३९. काल वर्तुलाकार चलता है।
 है।
 ४०. काल के प्रभाव से हम बूढ़े होते हैं ४०. जरा और मृत्यु शरीर का धर्म है,
 और मरते हैं। आत्मा का नहीं।

समाज

१. व्यक्ति परिस्थिति का निर्माण करता १. व्यक्ति और परिस्थिति एक दूसरे
 है अथवा परिस्थिति व्यक्ति का का निर्माण करते हैं।
 निर्माण करती है।
 २. परिस्थिति ठीक हो तो व्यक्ति अपने २. व्यक्ति के लिए साधना में से
 आप सुधर जाएगा अथवा व्यक्ति गुजरना और संस्थाओं के लिए
 ठीक हो तो संस्थाएं अपने-आप ठीक व्यवस्था का निर्माण—दोनों
 सुधर जायेगी। आवश्यक हैं।
 ३. एक आदर्श समाज की व्यवस्था ३. समाज व्यवस्था कितनी भी आदर्श
 होनी चाहिए। हो, उसमें देश व काल के अनुसार
 परिवर्तन अपेक्षित रहता है।
 ४. जैन परम्परा में सामाजिक व ४. प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने राजपद
 आर्थिक तन्त्र का चिन्तन नहीं है। पर रहते समय असि, मसि और
 कृषि की व्यवस्था द्वारा सामाजिक
 तथा आर्थिक तन्त्र की चिन्ता की
 थी।
 ५. पूंजीवादी व्यवस्था में पूर्ण स्वतन्त्रता ५. इच्छा पर अंकुश लगाए बिना
 है। स्वतन्त्रता स्वच्छन्दता बन जाती है।
 ६. सब कार्य पैसे से सिद्ध हो जाते ६. पैसा यदि साधन न रहकर साध्य
 हैं। बन जाए तो वह मनुष्य को
 दीन-हीन बना देता है।
 ७. पैसे पर यदि राज्य का अधिकार ७. राज्य सत्ता भी अत्याचार कर
 होगा तो शोषण नहीं होगा। सकती है।

८. वर्णाश्रम व्यवस्था सर्वोत्तम है।
९. उत्पादन का प्रयोजन लाभ कमाना है।
१०. शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को नौकरी दिलाना है।
११. अभाव पीड़ा का कारण है।
१२. अभाव दुःख का कारण है।
१३. परिग्रह जितना अधिक हो, उतना अच्छा।
१४. समाजवादी व्यवस्था सर्वोपकारी है।
१५. विकास का अर्थ है—पूरे विश्व में उत्पन्न होने वाले उत्तम पदार्थों का संग्रह और भोग।
१६. परिग्रह सम्मान का कारण है।
१७. सभी स्वार्थी हैं।
१८. अधिक लोगों के सुख के लिए थोड़ों का सुख छोड़ा जा सकता है।
१९. भोग की अधिक से अधिक सामग्री बाजार में लानी चाहिए।
२०. धन ही सब कुछ है।
२१. विकास के लिए केन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था आवश्यक है।
८. वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत ऊंच-नीच के भेदभाव ने मनुष्य को अपमानित किया है।
९. उत्पादन मनुष्य के हित को केन्द्र में रखकर होना चाहिए।
१०. शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को सुसंस्कृत बनाना है।
११. केवल अभाव ही नहीं, अक्षमता भी पीड़ा का कारण है।
१२. अभाव ही नहीं, अतिभाव भी दुःख का कारण है।
१३. परिग्रह व त्याग के बीच सन्तुलन होना चाहिए।
१४. समाजवादी राष्ट्र भी घातक शस्त्रों की होड़ में किसी से पीछे नहीं रहे।
१५. स्वदेशी और स्वावलम्बन राष्ट्रीय स्तर पर शोषण को रोकने का उपाय है।
१६. सम्मान का कारण है—चरित्र।
१७. बृहत्तर स्वार्थ ही सच्चा स्वार्थ है। बृहत्तर स्वार्थ का अर्थ है—ऐसा स्वार्थ जो परार्थ का विरोधी नहीं है।
१८. सभी समान हैं। किसी का सुख किसी दूसरे के सुख के लिए छीना नहीं जा सकता।
१९. वरीयता मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकताओं को देनी चाहिए।
२०. ज्ञान, आत्म-सम्मान और सेवा का भी महत्त्व है।
२१. कर्मचारियों के संतोष के लिए विकेन्द्रीकरण आवश्यक है।

संयम

- | | |
|-------------------------------------|--|
| १. सैक्स का संयम हानिकारक है। | १. अनियन्त्रित सैक्स न केवल शारीरिक रोग लाता है अपितु मानसिक विक्षिप्तता भी लाता है। |
| २. सैक्स का नियन्त्रण संभव नहीं है। | २. सैक्स के नियन्त्रण की एक विधि है, जिसे जान लेने पर सैक्स का नियन्त्रण सम्भव है। |
| ३. भोग सुख देता है। | ३. भोग ऊर्जा का व्यय करता है। |
| ४. ब्रह्मचर्य का जीवन दुःखपूर्ण है। | ४. अब्रह्म का सेवन हमारा सन्तुलन बिगाड़ता है। |
| ५. वीतरागता विरसता लाती है। | ५. आसक्ति भोगों में भी बाधक है। |
| ६. इच्छा की पूर्ति में सुख है। | ६. इच्छा में विवेक करना आवश्यक है। |
| ७. दमन अहितकर है। | ७. भोग हमारे मनोबल को क्षीण करता है। |
| ८. भोजन शक्ति बढ़ाता है। | ८. अतिभोजन रोग का घर है। |
| ९. तप कष्टकर है। | ९. विलासिता दुर्बल बनाती है। |
| १०. इन्द्रियाँ सुख का साधन है। | १०. वास्तविक सुख अतीन्द्रिय है। |
| ११. यौवन का अर्थ है—शक्ति। | ११. यौवन का अर्थ है—शरीर का लचीलापन और बुद्धि की ग्रहणशीलता। |

पर्यावरण

- | | |
|--|---|
| १. जड़ और चेतन का परस्पर कोई संबंध नहीं। | १. मुक्त-चेतना को छोड़कर शेष सभी स्थितियों में जड़ और चेतन एक दूसरे को प्रभावित कर रहे हैं। |
| २. प्रकृति हमारी भोग्या है। | २. अस्तित्व में प्रकृति, वनस्पति और पशु का भी उसी प्रकार महत्त्व है जिस प्रकार हमारा। |
| ३. पर्यावरण को हम शुद्ध कर सकते हैं। | ३. पर्यावरण की शुद्धि की प्रक्रिया प्रकृति में स्वतः चलती है। हम उसमें हस्तक्षेप करते हैं तो वह व्यवस्था गड़बड़ा जाती है। |

४. हम प्रकृति का संचालन करते हैं। ४. प्रकृति में हम कुछ भी नया नहीं बना सकते। प्रकृति जो कुछ देती है, हम केवल उसका उपयोग कर सकते हैं।
५. उद्योगों को बढ़ावा देकर हम विकास करते हैं। ५. उद्योगों से होने वाला प्रदूषण प्राकृतिक सम्पदा की दृष्टि से हमें दरिद्र बनाता है।
६. केन्द्रीकृत अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत बड़े उद्योगों से पैदा होने वाला माल सस्ता और सुलभ होता है। ६. केन्द्रीकृत व्यवस्था के अन्तर्गत श्रमिक मनुष्य नहीं रहकर यन्त्र बन जाता है।
७. हस्तशिल्प का काम भौंडा होता है। ७. हस्तशिल्प में सौन्दर्य है।
८. मूलभूत आवश्यकताएं निश्चित हैं। ८. मूलभूत आवश्यकताओं की सूची सापेक्ष है। किसी के लिए टेलीविजन मूल आवश्यकता है, किसी के लिए वह शान्ति में बाधक है।
६. धन साध्य है, उसे कमाने के लिए कोई भी उपाय बरता जा सकता है। ६. प्रकृति के शोषण से एक बार धन भले ही मिल जाए लेकिन लम्बे समय में हम उन मूलभूत साधनों से ही वंचित हो जाते हैं जिनके आधार पर उद्योग-धन्धे चलते हैं।

अहिंसा

१. मित्र के प्रति मैत्री का नियम उचित है। १. अहिंसा बेशर्त होती है।
२. जीवन के अस्तित्व के लिए की गई हिंसा हिंसा नहीं है। २. हिंसा हर हालत में हिंसा ही है।
३. हिंसा का कारण क्रूरता है। ३. तनाव के कारण भी व्यक्ति हिंसक हो जाता है।
४. सत्य के प्रति तो आग्रह होना ही चाहिए। ४. किसी भी प्रकार का आग्रह हिंसा का हेतु है।
५. सुरक्षा के लिए हिंसा उचित है। ५. अहिंसा की पहली शर्त है-अभय।
६. अहिंसा अव्यवहारिक है। ६. व्यवहार के लिए भी एक सीमा तक अहिंसा आवश्यक है।

७. हम सब अलग-अलग हैं।
८. सुविधा उपलब्ध हो तो हिंसा नहीं होती।
९. अहिंसा निर्बलों के लिए हैं।
१०. अहिंसा के लिए इच्छाओं का दमन करना पड़ता है।
११. अहिंसा के लिए सुख छोड़ना आवश्यक नहीं।
१२. अहिंसा का फल परोक्ष है।
१३. अहिंसा यथास्थितिवाद की समर्थक है।
७. भेद में छिपे अभेद को जानना आवश्यक है।
८. हिंसा की जड़ में भोग की इच्छा मुख्य है।
९. अहिंसा का पालन केवल समर्थ कर सकते हैं।
१०. अहिंसा के लिए इच्छाओं का परिसीमन /परिष्कार करना होता है।
११. परिग्रही व्यक्ति अहिंसक नहीं हो सकता।
१२. अहिंसा का फल पर्यावरण की सुरक्षा जैसे सन्दर्भों में प्रत्यक्ष है।
१३. अहिंसा जीवन में आमूलचूल परिवर्तन माँगती है।

विज्ञान

१. देश और काल की सत्ता पृथक्-पृथक् है।
२. काल सर्वत्र एक जैसा है।
३. पदार्थ की लम्बाई, चौड़ाई सब स्थितियों में एक ही रहती है।
४. हमें पदार्थ के स्वरूप को तर्क के अनुसार ढालना चाहिए।
५. पदार्थ का द्रव्यमान सदा एक रहता है।
६. काल की दृष्टि से जो एक के लिए पूर्व (पहले) है वह सबके लिए पूर्व है।
७. दो परस्पर विरोधी तथ्यों में एक ही सत्य हो सकता है।
१. देश और काल दोनों मिलकर एक युति बनाते हैं।
२. काल की लम्बाई गति-सापेक्ष है।
३. पदार्थ की लम्बाई, चौड़ाई पदार्थ की गति के साथ बदल जाती है।
४. हमें अपने तर्क को पदार्थ के स्वरूपानुसार ढालना चाहिए।
५. पदार्थ का द्रव्यमान गति के साथ बढ़ता है।
६. काल की दृष्टि से जो एक के लिए पूर्व है वह दूसरों के लिए युगपत् है।
७. स्थूल स्तर पर न्यूटन के सिद्धान्त सत्य है और सूक्ष्म स्तर पर आइंस्टीन के सिद्धान्त सत्य है, यद्यपि वे दोनों परस्पर विरोधी हैं।

८. सत्य द्वंद्वात्मक है।
 ६. एक वक्तव्य या तो सत्य होता है या असत्य।
८. एक द्वंद्वातीत सत्य भी है।
 ६. कोई भी वक्तव्य सम्यक् परिप्रेक्ष्य में सत्य होता है और मिथ्या परिप्रेक्ष्य में असत्य।

शिक्षा

१. वर्तमान शिक्षा सर्वोत्तम है।
 २. अध्ययन द्वारा व्यक्तित्व का निर्माण किया जा सकता है।
 ३. शिक्षा की सार्थकता इसमें है कि आजीविका जुटा दे।
 ४. ध्यान उनके लिए है जो मुमुक्षु हैं।
 ५. वीतरागता अध्यात्म का मार्ग है।
 ६. सङ्कल्प करने से सफलता मिल जायेगी।
 ७. रोग की जड़ शरीर में है।
 ८. प्रवृत्ति और निवृत्ति में विरोध है।
१. वर्तमान शिक्षा से बौद्धिक विकास अवश्य होता है किन्तु भावनाएं परिष्कृत नहीं होतीं।
 २. व्यक्तित्व के निर्माण के लिए कुछ प्रयोगों का अभ्यास करना भी आवश्यक है। ये प्रयोग ही योग कहलाते हैं।
 ३. शिक्षा को एक ऐसा लक्ष्य भी प्रदान करना होता है जिसके प्रति विद्यार्थी अपने आप को समर्पित कर सके।
 ४. ध्यान लौकिक सफलता के लिए भी महत्त्वपूर्ण है।
 ५. तटस्थ भाव के बिना हम लौकिक समस्याओं का भी ठीक समाधान नहीं खोज पाते।
 ६. सङ्कल्प से सफलता तभी मिलती है जब वह सङ्कल्प गहराई में उस अवचेतन मन तक पहुंचा हुआ हो जिस अवचेतन मन तक वह आदत पहुंची हुई है जिसे हम बदलना चाहते हैं।
 ७. रोग की जड़ मनोभावों में है।
 ८. कोरी प्रवृत्ति विक्षिप्तता उत्पन्न करती है। कोरी निवृत्ति निकम्पापन लाती है। दोनों में सामञ्जस्य चाहिए।

६. अनुकूल निमित्त सफलता दिलाते हैं।
१०. भोग हमें पुष्ट करते हैं।
११. दमन हानिकारक है।
१२. सुविधाएं अभीष्ट हैं।
१३. तप व्यर्थ है।
१४. आध्यात्मिक तत्त्व परोक्ष है।
१५. सृष्टि जड़ से बनी है।
६. निमित्तों से मिलने वाली सफलता स्थायी नहीं है। स्थायी सफलता उपादान पर टिकी है।
१०. भोग हमारी प्राण शक्ति का हास करते हैं।
११. यौन की स्वच्छन्दता विक्षेप का कारण है।
१२. सहिष्णुता आवश्यक है।
१३. तप शरीर के परमाणुओं को चुम्बकीय क्षेत्र में बदल देता है जिससे शरीर पारदर्शी बन जाता है और चेतना बाहर झांक सकती है।
१४. हमारे अस्तित्व में मन, बुद्धि, प्राण आदि अनेक अंश सूक्ष्म हैं किंतु परोक्ष नहीं।
१५. सृष्टि का निर्माण प्राणियों के भीतर

बैठी चेतना कर रही है।
 उपर्युक्त विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत आचार्य महाप्रज्ञ द्वारा प्रचलित अवधारणाओं के स्थान पर दी गई अवधारणाओं की एक सूची बानगी के रूप में दी गई है। इस सूची का संबंध व्यवहार सम्बन्धी प्रथम खण्ड से है। जहाँ तक परमार्थ का संबंध है, इस ग्रंथ के परमार्थ खण्ड में दिए गए सभी सूत्र कोई न कोई अभिनव अवधारणा लिए हुए हैं। अतः इन्हें यहाँ पृथक् रूप में नहीं दिया जा रहा है।

उपर्युक्त अवधारणाओं की सूची और परमार्थ खण्ड में दिये गये सूत्रों के अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य महाप्रज्ञ के चिन्तन का पटल कितना व्यापक है और उनके द्वारा प्रदत्त अवधारणाएँ कितनी मौलिक हैं। इसी व्यापक पटल पर उनकी अवधारणाओं की मौलिकता को उकेरने का एक प्रारम्भिक एवं विनम्र प्रयास आगे के पृष्ठों में है।

भावभूमि

पाँच हजार वर्ष पुरानी कहानी है। एक यक्ष ने पाँच पाण्डवों में से भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव इन चारों को पकड़ कर मार दिया। इनका कसूर यह था कि यक्ष ने कहा था कि इस झरने से पीने के लिए पानी लेने से पहले वे उसके प्रश्नों का उत्तर दें। चारों में से किसी ने भी यक्ष की परवाह नहीं की और उसके प्रश्नों का उत्तर दिये बिना ही झरने से पानी लेना चाहा। चारों धराशायी हो गये। अन्त में युधिष्ठिर वहाँ पहुँचे। यक्ष ने कहा कि पानी लेने से पूर्व आप मेरे प्रश्नों का उत्तर दे दें। युधिष्ठिर ने कहा कि प्रश्न पूछो। यक्ष ने पूछा कि संसार में सबसे बड़ा आश्चर्य क्या है? युधिष्ठिर ने कहा कि प्रतिक्षण प्राणी हमारे सामने रात-दिन मरते दिख रहे हैं। फिर भी हम यही मान बैठे हैं कि हम कभी नहीं मरेंगे—भला इससे बढ़कर और क्या आश्चर्य हो सकता है—किम् आश्चर्यम् अतः परम् ?

दृष्टि का भ्रम

संसार में, अस्तित्व में, जो कुछ जैसा है, वह हमारे सामने है फिर भी कई बार हम उसे मानने को तैयार नहीं होते हैं। हम सब जानते हैं कि पृथ्वी थाली की भांति चपटी नहीं है अपितु गेंद की अथवा नारंगी की भांति गोल है, तथापि बारम्बार हमारी यही धारणा बनती रहती है कि पृथ्वी चपटी है। हम ऐसा इसलिए मानते हैं कि जैसा दिखाई देता है उसके अतिरिक्त भी सत्य है—यह हम नहीं जानते/मानते। हम कभी-कभी जो है उसे जानते ही नहीं हैं। कभी-कभी जान लेने पर भी उसे मानते नहीं हैं क्योंकि हमारी पूर्व धारणाएँ इतनी बद्धमूल होती हैं कि उन धारणाओं के विरुद्ध यदि कोई जानकारी हमें मिल जाए तो वह जानकारी हमारे चिन्तन के ऊपरी स्तर पर ही बनी रह जाती है, उस गहराई पर नहीं पहुँच पाती जिस गहराई पर हमारी पूर्व धारणाएँ जड़ जमाए बैठी होती हैं। हम जानते हैं कि यह शरीर एक दिन हमसे छूट जाएगा

पर इसे मानने को तैयार नहीं हैं। यह मिथ्या दृष्टि हुई। कभी-कभी हमें यह पता ही नहीं होता कि सच्चाई क्या है। उदाहरणतः हमें यह पता ही नहीं है कि हमारे शरीर की प्रत्येक कोशिका (सेल) में प्रति सेकेन्ड ६ ट्रिलियन (६०००,०००,०००,०००) प्रतिक्रियाएं हो रही हैं। हम यही समझते हैं कि हमारा शरीर कुछ स्थिर — न बदलने वाले—घटकों की समष्टि है। यह अज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान हुआ। सच्चाई यह है कि एक मास में हमारे शरीर की पूरी चमड़ी बदल जाती है। पाँच दिन में उदर की चारदीवारी बदल जाती है, छह सप्ताह में लीवर बदल जाता है तथा तीन महीनों में पूरा अस्थिपञ्जर बदल जाता है। एक वर्ष पूरा होते न होते हमारे शरीर का ६८ प्रतिशत भाग पूरी तरह बदल चुका होता है, पर हम जन्मदिन के अवसर पर यही समझते हैं कि हमारा शरीर २ प्रतिशत भले ही बदल गया हो ६८ प्रतिशत तो वही है जो पिछले जन्मदिन पर था अर्थात् जो है, हम ठीक उसका उल्टा मानते हैं। जब ज्ञान ही मिथ्या है तो दृष्टि सम्यग् होगी ही कैसे ?

तीन रत्न

हम जानते भी हैं और मानते भी हैं कि भूख से ज्यादा खा लेना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है फिर भी अपने मन पसंद का भोजन सामने हो और परोसने वाला मनुहार कर रहा हो तो ज्यादा खा ही लेते हैं और फिर रात भर खट्टी-मीठी डकारें लेते हुए अनिद्रा से पीड़ित होकर करवटें बदला करते हैं—यह आचरण की विपरीतता है। ज्ञान भी सम्यक्, मान्यता भी सम्यक् पर आचरण मिथ्या।

जिसे हम ठीक से जानते हैं उसे मानें भी। यह सम्यक् दर्शन हुआ। जिसे हम ठीक नहीं जानते उसे ठीक से जानने का पुरुषार्थ करें—यह सम्यग् ज्ञान की आराधना हुई, और जब किसी चीज को ठीक जान-मान लिया तो फिर आचरण उस सम्यक् ज्ञान और सम्यक् श्रद्धा के अनुरूप हो, यह सम्यक् चरित्र हुआ। यह नहीं हो कि दुर्योधन की तरह अपनी विवशता प्रकट करते हुए कह दें कि हम जानते हैं कि ठीक क्या है फिर भी उसे कर नहीं सकते और हम जानते हैं कि गलत क्या है फिर भी उसे कर ही डालते हैं—

जानामि धर्म न च मे प्रवृत्तिः

जानाम्य् अधर्म न च मे निवृत्तिः

दुर्योधन ने अपने मिथ्या आचरण का सारा बोझ किसी देव पर डाल दिया था कि “मेरे हृदय में एक देव बैठा है, वह जैसा करवाता है मैं वैसा कर देता हूँ”—

**केनापि देवेन हृदि स्थितेन
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि**

देव तो हमारे हृदय में बैठा है या नहीं, यह संस्कार अवश्य बैठा है कि गलत काम करे बिना जिन्दगी का मजा नहीं आ सकता। बिना झूठ बोले काम नहीं चलता—यह हम मान ही बैठे हैं। मिथ्या को अपरिहार्य/अनिवार्य उपयोगी मान बैठने वाला सम्यक्त्व की आराधना कैसे करेगा ? असली मूर्ख वह नहीं है जिसे मार्ग का पता नहीं है, असली मूर्ख वह है जो मानता है कि ठीक जगह पहुंचने के लिए गलत रास्ते पर चलना जरूरी है। बात सीधी-सादी है—सम्यग्दृष्टि, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र की त्रिपुटी को अपनाये बिना जीवन की कृतकृत्यता तीन काल में भी सम्भव नहीं है।

मोक्ष : हमारे जीवन का सहज लक्ष्य

कुछ लोग कहते हैं—हमें मोक्ष नहीं चाहिए। वे मोक्ष का गलत अर्थ लगा बैठे हैं। मोक्ष कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जो कहीं लोकाकाश के अन्त में किसी शिला पर रखा हो। यदि ऐसा होता तब तो यह कहा जा सकता था कि हमें मोक्ष नहीं चाहिए। हम सिद्धशिला पर जायेंगे तो मोक्ष मिलेगा और हमें सिद्धशिला पर नहीं जाना। मोक्ष हमसे बाहर कहीं नहीं है, वह हमारा स्वभाव है। हम अपने स्वभाव से छुटकारा नहीं पा सकते अतः मोक्ष हमारे चाहने की चीज नहीं है, वह हमारे शुद्ध अस्तित्व का नाम है। हम चाहें भी तो अपने अस्तित्व को मिटा नहीं सकते, अपने अस्तित्व से छुटकारा नहीं पा सकते। हमारे अस्तित्व का क्या रूप है, यह विवाद मतभेद का विषय हो सकता है किंतु यह कहना कि मुझे अपना अस्तित्व नहीं चाहिए, निरा अज्ञान है, हम असंभव की इच्छा नहीं कर सकते।

हम कुछ भी चाहें, पहले अपने को शुद्ध कर लें। अशुद्ध व्यक्ति की कामना भी अशुद्ध ही हो जाती है। अशुद्ध कामना का फल भी अशुद्ध ही होगा। उदाहरण के लिए क्रोध, मान, माया और लोभ अध्यात्म के विषय माने जाते हैं। सामान्यतः व्यावहारिक क्षेत्र में इन कषायों से हो सकने वाली विसंगतियों पर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। जबकि सच्चाई यह है कि इन कषायों के साथ जीते हुए हमारा सामान्य सामाजिक जीवन भी चल ही नहीं सकता।

क्रोधी व्यक्ति की कामना यही होगी कि उसके सभी विरोधी नष्ट हो जायें। क्रोध क्रोध को उपजाता है। उसके विरोधी भी यही चाहेंगे कि वह व्यक्ति नष्ट हो जाये। अब यदि दोनों की कामनाएं फलित हों तो सुन्द-उपसुन्द न्याय से दोनों ही नष्ट हो जायेंगे।

- अभिमानी व्यक्ति की कामना होगी कि बाकी सब लोग उसके समक्ष झुकें। मान मान को उपजाता है। दूसरे लोग भी परस्पर यही चाहेंगे कि सब लोग उनके समक्ष झुकें। तो मान के कारण कोई किसी के समक्ष नहीं झुकेगा। एक-दूसरे को झुकाने के लिए संघर्ष की स्थिति बनेगी, और सब परस्पर मरने-मारने पर उतारू हो जायेंगे।
- मायावी व्यक्ति सबको ठगना चाहेगा। माया से माया उपजती है। सभी मायावी बनें, तो फिर परस्पर ठगना प्रारम्भ कर देंगे। सभी ठगेंगे और सभी ठगाये भी जायेंगे। जीवन का सामान्य व्यवहार, जो परस्पर विश्वास के आधार पर ही चल सकता है, टप हो जायेगा।
- लोभी व्यक्ति चाहेगा कि बाकी सबकी सम्पत्ति उसके पास आ जाये। लोभ से लोभ पनपता है। सब लोभी हो जायें तो सभी एक दूसरे की सम्पत्ति हड़पना चाहेंगे। सम्पत्ति किसके पास जाये? उभयतोपाश न्याय से सम्पत्ति का भोग कोई भी नहीं कर पायेगा अथवा दुनिया में मात्स्यन्याय ही चलेगा, सभ्यता पुनः अपनी प्रारम्भिक स्थिति में चली जाएगी।

अध्यात्म के बिना खोखली है समाज सेवा

क्रोध, लोभ, मान, माया से युक्त व्यक्ति की सब कामनाएं आत्मघाती सिद्ध होती हैं। आप मोक्ष मत चाहें, लेकिन क्रोध, मान, माया और लोभ से तो मुक्त हों। आप चाहते हैं कि आप अपना ही सुख न चाहकर सबका सुख चाहें। आप कहते हैं कि न मुझे राज्य चाहिए, न स्वर्ग, न मोक्ष, मुझे तो प्राणी मात्र को दुःख से छुटकारा दिलाने की तमन्ना है—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।

कामये दुःखतप्तानां प्राणिनाम् अर्तिनाशनम्।

यह बहुत अच्छी कामना है। किंतु क्या क्रोध, लोभ, मान और माया से युक्त व्यक्ति की कामना कभी शुद्ध हो सकती है? “सर्वे भवन्तु सुखिनः” की कामना करने में कोई कठिनाई नहीं है किंतु क्या क्रोधी, लोभी, अभिमानी और मायावी किसी को सुख दे सकता है? क्रोध, मान, माया और लोभ से पहले अपना छुटकारा कर लें—यह जरूरी है, भले ही मोक्ष की कामना न करें। जहां तक हमारा सवाल है, हम तो कषाय मुक्ति को ही मुक्ति मानते हैं—**कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव।** क्रोध, मान, माया और लोभ का ही नाम कषाय है। कषाय से छुटकारा न मिले तो दूसरे का भला करने की कामना ऐसी ही है जैसे कोई अपने हाथ में कीचड़ लपेट कर उसी हाथ से दूसरे के कपड़ों पर पड़ी धूल झाड़ना चाहे।

सत्य का आवरण है कषाय

कषाय एक रंग है। हमारी आत्मा का कोई रंग नहीं है। आत्मा अर्थात् स्वभाव पर जो भी रंग चढ़ा है वह बाहर से आया है—आगन्तुक है। उस आगन्तुक रंग ने आत्मा को कषायित किया है—रंग दिया है। उस रंग के कारण ही न हम सत्य को जान पाते हैं, न मान पाते हैं। जाने और माने बिना सत्य को आचरण में उतारने का तो प्रश्न ही कहाँ है। कषाय-वश हमें जो है वह तो दिखायी देता नहीं, दिखायी कुछ और ही देता है।

जो है उसे छिपा ले—वह आवरण है, जो नहीं है उसे दिखा दे—वह विक्षेप है। आवरण और विक्षेप का ही नाम वेदान्त में माया है और जैन परम्परा में मिथ्यात्व है। मान्यता को उलट दे वह दर्शनमोहनीय, ज्ञान को छिपा ले वह ज्ञानावरणीय, चरित्र को विपर्यस्त कर दे सो चरित्र-मोहनीय। ये तो विद्वानों के दिये हुए नाम हैं। नाम कभी-कभी बहुत डरा देते हैं। शब्द कभी-कभी सत्य को प्रकट नहीं करते बल्कि सत्य को छिपा लेते हैं। सिद्ध पुरुषों ने तो कह दिया कि आत्मा को शब्दों में नहीं बांधा जा सकता पर आत्मा के स्वरूप को बतलाने के लिए दार्शनिकों ने ऐसा शब्द-जाल फैलाया कि आत्मा शब्द तो सबकी जबान पर चढ़ गया पर जैसे ही हम यह ज्ञानना चाहें कि आत्मा है क्या; वैसे ही विभिन्न दार्शनिकों के बीच ऐसा दंगल मचता है कि उसके आगे ओलम्पिक की प्रतियोगिताएं भी फीकी पड़ जाती हैं। आत्मा को जानना हो तो शब्दों से नहीं जाना जा सकेगा। उसके लिए साधना से गुजरना पड़ेगा। तब ही हम कबीर की वाणी में अपनी वाणी मिला कर कह सकेंगे—

तू कहता कागद की लेखी

मैं कहता आंखन की देखी।

आत्मज्ञान कोई भूलभुलैया नहीं है

अपने को जानना होगा। अगर जानने वाले को ही न जाना तो दूसरों के जानने की इच्छा करने का अर्थ एक बुझे हुए दीपक से घट-पट आदि पदार्थों के प्रकाशित हो जाने की आशा करना होगा। दीपक अपने को प्रकाशित कर दे तो फिर सबको प्रकाशित कर सकता है, वह स्व-प्रकाशक होकर ही पर-प्रकाशक हो सकता है। हम अपने को जानते नहीं और दूसरों को जानते हैं तो हमारा दूसरों को जानना भी मिथ्या ही है। अपने को नहीं जाना—यह दृष्टि का मिथ्या होना हुआ। जो मिथ्यादृष्टि है उसका सब ज्ञान मिथ्या है।

कहा जाता है कि यह आत्मज्ञान का चक्कर भारतीय दर्शन को रहस्यवादी बना देता है—बुद्धि से परे की चीज बना देता है। न नौ मन तेल

इकट्ठा होगा, न राधा नाचेगी। न हम कभी आत्मा को जान पायेंगे, न कभी हमें सम्यग् ज्ञान होगा। समझा जाता है कि आत्मज्ञान तो कुछ गिने-चुने बिरले योगियों को ही होता है। तिस पर भी तुक्का यह है कि आत्मा के स्वरूप के बारे में मतभेदों का अंत नहीं है। वेदान्त के लिए आत्मा एक ही है और सर्वव्यापक है। सांख्य के लिए आत्मा एक तो नहीं है पर सर्वव्यापक है। बौद्ध कहता है कि आत्मा नाम की चीज है ही नहीं, हालांकि पुनर्जन्म और कर्मफल है। इस भूल-भुलैया में दार्शनिकों को रस आ सकता है, लेकिन सामान्य व्यक्ति तो यह सब सुनकर तौबा कर लेता है कि अपने को इस चक्कर में नहीं पड़ना, ईमानदारी से परिश्रमपूर्वक अपनी आजीविका चलाकर दो जून रोटी खा लेनी है। आत्म-स्वरूप का निर्णय करना उन निट्टलों के लिए है जिन्हें बिना कुछ करे-धरे रोटी मिल जाती है !! अपन ठहरे दुनियादार आदमी ! बाल-बच्चों का पेट भरना है। इस चक्कर में पड़े तो दुनिया के काम के नहीं रहेंगे।

बेईमानी के बिना काम नहीं चलता—यह पहला भ्रम है और आत्मा-परमात्मा के चक्कर में पड़ गये तो दुनिया के काम के नहीं रहेंगे—यह दूसरा भ्रम है। यह भ्रम सर्वथा निराधार नहीं है। जिन्होंने दर्शन को बुद्धि-विलास बना दिया है उन्होंने दर्शन को सचमुच ऐसा बना दिया कि दार्शनिक आधा पागल लगता है और दीवार पर गोबर के उपले थापे हुए देखकर यह सोचा करता है कि दीवार पर इतनी ऊँची चढ़कर गाय ने गोबर कैसे कर दिया। उसके ध्यान में यह सीधी-सी बात नहीं आती कि किसी व्यक्ति ने गाय के गोबर को जमीन से उठाकर दीवार पर चिपका दिया होगा।

आत्मा-परमात्मा का चक्कर कई बार सचमुच आदमी को पागल बना देता है। आत्मा शब्दों से परे है। तर्क से परे है, वहां तक बुद्धि नहीं जा सकती। उसका न नाम है, न रूप। उसमें न गंध है, न रस, न स्पर्श। ऐसे-ऐसे वक्तव्य पढ़कर आदमी अन्धी गलियों में भटकने के अतिरिक्त क्या कर सकता है।

सत्य यह है कि आत्मा कोई परीलोक की चीज नहीं है। मैं स्वयं आत्मा हूँ। घबराने की बात नहीं है। मेरा नाम भी है और रूप भी है। मुझे जाना जा सकता है। यह सच है कि मेरे अस्तित्व के हर कण में आत्मा है, मेरी हर क्रिया में आत्मा का योगदान है। अपने अस्तित्व में, अपनी क्रिया में आत्मा को देखा जा सकता है। आत्मा का हम कोई संकीर्ण अर्थ न करें। शरीर अत्यन्त स्थूल है, किंतु प्रारम्भिक स्थिति में हम शरीर को ही आत्मा मानकर चल सकते हैं। शरीर को समझना भी कोई साधारण बात नहीं है। जिसने शरीर को समझा, उसने अपने अस्तित्व को समझने की प्रक्रिया प्रारम्भ कर दी। प्रारम्भ स्थूल से हुआ, किंतु यह स्थूल से प्रारम्भ हुई यात्रा ही मन-बुद्धि से होती हुई उस

सूक्ष्मतम स्तर तक पहुँच जायेगी—जिसे दार्शनिक आत्मा कहते हैं। आत्म-ज्ञान की यात्रा सामान्यतः एक छलांग नहीं है, अपितु स्थूल से क्रमशः सूक्ष्म की ओर प्रयाण है।

स्वयं को जाने बिना सब व्यर्थ है

प्रश्न होता है कि आत्मा को जानने की आवश्यकता क्या है? प्रथम उत्तर तो यह है कि यदि आत्मा है अर्थात् मैं हूँ तो यह प्रश्न गलत है कि उसे क्यों जानूँ। जो है उसे जानना ज्ञान है, न जानना अज्ञान है। मैं अज्ञान से ज्ञान की ओर क्यों जाऊँ यह प्रश्न ऐसा ही है कि कोई पूछे कि मैं श्वास क्यों लूँ? सत्य का अपना मूल्य है। ज्ञान अपने में कीमती है। अज्ञान खुद में हेय है। फिर भी यदि कोई ज्ञान का प्रयोजन जानना ही चाहे तो ज्ञान का प्रयोजन है—जीवन की सार्थकता। ज्ञान के बिना किसी भी कार्य में सफलता नहीं मिलती। वाणिज्य के सिद्धान्तों को जाने बिना व्यापारी असफल हो जाता है। शस्त्र-ज्ञान के बिना योद्धा पराजित हो जाता है, विज्ञान के ज्ञान के बिना प्रयोगशाला में कोई प्रयोग सफल नहीं हो सकता। अतः ज्ञान का महत्त्व तो स्वतः सिद्ध है। प्रश्न है आत्म-ज्ञान के महत्त्व का। आत्म-ज्ञान का प्रयोजन है—शान्ति। सामान्यतया हम समझते हैं कि हमारे जीवन का अंतिम लक्ष्य सुख की प्राप्ति है। किंतु यदि मन शान्त न हो तो सुख मृग-मरीचिका ही बना रहता है—**“अशान्तस्य कुतः सुखम्”** ? किसी ने भरी सभा में हमारा अपमान किया—हमारा मन अशान्त हो गया। घर आने पर हमारे सम्मुख भोजन के समय नानाविध व्यंजन परोसे गए। हमारा मन सभा में हुए अपमान के कारण अशान्त है, तो सामने थाली में रखे स्वादिष्ट व्यंजन भी हमें सुख नहीं दे सकते। इसके विपरीत यदि सभा में हमारी प्रशंसा हुई—तो हमारा मन प्रफुल्लित हो जायेगा। उस स्थिति में सामान्य भोजन भी सुखदायी होगा। किंतु वस्तुतः यह भी शान्ति की अवस्था नहीं है। वास्तविक शान्ति वह है—जो निंदा या प्रशंसा से भंग नहीं होती। ऐसी स्थिति पाने वाला स्थितप्रज्ञ ही सदा सुखी रह सकता है। इतना स्पष्ट है कि शान्ति हमारे बाहर नहीं है। अतः ऐसी शान्ति प्राप्त करनी हो तो अंदर झांकना होगा। हमारी इन्द्रियाँ सदा बाहर देखती हैं, इसलिए आत्मा इन्द्रियों का विषय नहीं बन पाती। एक ऐसी चेतना भी है जो इन्द्रियातीत है। इन्द्रियातीत चेतना कहो या अन्तर् आत्मा कहो—एक ही बात है। आत्मदर्शन का यही एकमात्र उपाय है।

प्रारम्भ करें शरीर से

पर हम अन्दर झांकने की जल्दी न करें। हमें अंदर झांकने का अभ्यास नहीं है। अभी अन्दर झाँकेंगे तो अतिरिक्त अंधेरे के और कुछ न दिखेगा। अतः

प्रारम्भ बाहर से ही करें। आत्मा का शब्दार्थ है—स्व। स्व का सबसे स्थूल दृश्यमान रूप है—शरीर। हम स्व को जानने के लिए शरीर से प्रारम्भ करें। शरीर का विषय रहस्यवादी नहीं है। विज्ञान ने शरीर के बारे में ढेरों जानकारी इकट्ठी कर ली है। चिकित्साशास्त्रियों ने लाखों प्रयोग करके शरीर की एक-एक गुत्थी को सुलझाया है। यह बात दूसरी है कि शरीर की पूरी गुत्थी अभी भी सुलझी नहीं है, पर बहुत सारे तथ्य हमारे सामने आ चुके हैं। शरीर का एक दूसरा पक्ष भी है। हम शरीर को जैसा देखते हैं—वह विज्ञान का विषय है। हम शरीर को जैसा अनुभव करते हैं—वह अध्यात्म का विषय है। विज्ञान यंत्रों से देखता है, अध्यात्म चित्त की एकाग्रता से अनुभव करता है। परीक्षण और अनुभव का सामंजस्य पूर्ण सत्य को प्रकट कर देता है। विज्ञान देखता है, लेकिन उसे सुख-दुःख कहीं दिखाई नहीं देते, वेदना को हम केवल अनुभव से जान सकते हैं, प्रयोगशाला में वह दिखाई नहीं देती।

शरीर के बारे में विज्ञान क्या बताता है हम उसे जानें और चित्त को एकाग्र कर शरीर को देखें भी, शरीर का अनुभव भी करें। यह सारा व्यायाम सत्य को जानने के लिए है। इसका बहुत बड़ा लाभ है। शरीर को जानकर हम शरीर को स्वस्थ, सुन्दर, निरोग, चुस्त तथा कार्यक्षम बना सकते हैं। हम जैसे-जैसे शरीर को जानेंगे हमें पता लगेगा कि अपने शरीर को हमने ही बनाया है किसी और ने नहीं और हम ही इसे आज भी बना रहे हैं। हम इसे जैसा चाहे बना सकते हैं। कहते हैं मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है और यह भी कहा जाता है कि पहला सुख निरोगी काया है तो देखना है कि क्या अपने शरीर को रोगी या निरोगी हम स्वयं बनाते हैं या कोई और। आधुनिक विज्ञान का उत्तर है कि अपने शरीर को रोगी भी हम स्वयं बनाते हैं और स्वस्थ भी हम स्वयं बनाते हैं। अध्यात्म तो पहले से ही यह कह रहा है कि अपने सुख-दुःख के लिए हम स्वयं जिम्मेदार हैं—**अप्या कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य**। शरीर के संबंध में विज्ञान और अध्यात्म में अद्भुत सहमति है। जरा उस सहमति पर ध्यान दें।

शरीर और मन का संबंध

विज्ञान और अध्यात्म की प्रथम सहमति इस बारे में है कि हमारा कोई विचार या भाव ऐसा नहीं जो अपने समानान्तर भौतिक स्तर पर भी कोई न कोई अनुकूल या प्रतिकूल परिवर्तन न लाता हो और न कोई भौतिक स्तर पर होने वाला परिवर्तन ऐसा है जो हमारे विचारों या भावों को प्रभावित न करता हो। यह सूत्र बहुत महत्त्वपूर्ण है, बल्कि सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण यही सूत्र है। प्रत्येक भाव के साथ द्रव्य जुड़ा है और प्रत्येक द्रव्य से भाव जुड़ा है। हम

अज्ञानवश यह समझते हैं कि हमने क्रोध किया तो इसका हृदयाघात से कोई संबंध नहीं है। वस्तुस्थिति यह है कि क्रोध एक भाव है। यह भाव उत्पन्न होते ही शरीर में ऐसा रसायन पैदा कर देता है जो विषाक्त है। वे विषाक्त रसायन हृदय रोग ही नहीं, जाने और भी कौन-कौन से कैंसर जैसे जानलेवा रोग पैदा कर देते हैं। हम यह भी जान लें तब भी यही मानते रहते हैं कि क्रोध किया, यह एक अलग बात है—और कैंसर हो गया—यह एक अलग बात है। हम ऐसा इसलिए मानते हैं कि हमें क्रोध से रोग उत्पन्न करने वाले रसायन पैदा होते हुए दिखाई नहीं देते। विज्ञान की कृपा से अब हमें यह दिखायी देने लग गया है। विज्ञान की यह विशेषता है कि बिना देखे वह कुछ भी नहीं मानता। विज्ञान की दूसरी विशेषता यह है कि जिसे कोई एक व्यक्ति देख सकता है विज्ञान उसे किसी दूसरे व्यक्ति को भी दिखा सकता है। इसीलिए विज्ञान की इतनी प्रतिष्ठा है कि विज्ञान जो कुछ कहता है उसे सबको मानना ही पड़ता है। धर्म के क्षेत्र में नास्तिक हो सकते हैं, लेकिन विज्ञान के क्षेत्र में नास्तिक नहीं हो सकते। लेकिन विज्ञान के आस्तिक की परिभाषा दूसरी है। वह यह नहीं मानता कि अमुक वैज्ञानिक ने जो कहा उसे अन्तिम सत्य मानना है। वह मानता है कि अन्तिम सत्य किसी ने जाना ही नहीं किंतु जितना सत्य आज तक जाना गया है, वह है तथ्य पर आश्रित, वह किसी अन्ध-श्रद्धा पर नहीं टिका है। विज्ञान की विधि ही कुछ ऐसी है।

आस्तिकता और नास्तिकता

एक विचारक हुए हैं—चार्वाक। उन्होंने कहा कि शरीर ही आत्मा है। सभी आत्मवादियों ने चार्वाक को पेट भरकर कोसा। “नास्तिक” शब्द भारतीय चिन्तन में एक गाली जैसा है। यूं तो सभी दर्शन वाले एक-दूसरे को नास्तिक समझते रहे हैं किंतु चार्वाक की नास्तिकता सबसे अधिक प्रसिद्ध हो गई। उसने कहा कि—

१. ईश्वर नहीं है।
२. कर्म का फल भोगने के लिए पुनर्जन्म नहीं होता।
३. प्रत्यक्ष के अतिरिक्त आगम तो क्या, अनुमान भी प्रमाण नहीं है।
४. जड़ के अतिरिक्त कोई चेतन नाम का तत्त्व नहीं है। जड़ पदार्थों के संयोग से ही चैतन्य उत्पन्न हो जाता है।

इन चार निषेधों के कारण चार्वाक की नास्तिकता चहुँमुखी है। जैन, बौद्ध भी सृष्टिकर्ता ईश्वर को नहीं मानते तथा आगमों में वेद को प्रमाण नहीं मानते हैं अतः ईश्वरवादी तथा वेदवादी उन्हें नास्तिक कहते हैं यद्यपि पाणिनि

नास्तिक उसे कहते हैं जो कर्मफल और पुनर्जन्म को न माने और इस दृष्टि से जैन तथा बौद्ध भी आस्तिक हैं। ईश्वर को न मानने वाले तो सांख्य तथा मीमांसक भी हैं किंतु वे वेद को मानते हैं। वेदान्ती ईश्वर को मानते हैं किंतु उनका ईश्वर नैयायिकों के ईश्वर से सर्वथा भिन्न है। जैसा ईश्वर, ईसाई या मुसलमानों का है वैसा ईश्वर वेदवादियों में शायद नैयायिकों का ही है। जैनाचार्य प्रायः ईश्वर की नैयायिक सम्मत अवधारणा का ही खण्डन करते हैं।

इस भूमिका के साथ प्रस्तुत प्रसंग में हमें चार्वाक की चतुर्थ मान्यता पर ही कुछ विशेष चर्चा करना अभिप्रेत है—क्या शरीर जड़ पदार्थों से ही मिलकर बना है और एक परिमाण विशेष में एक क्रम विशेष से मिलकर जड़ पदार्थ ही शरीर में चेतना उत्पन्न कर देते हैं अथवा चेतना कोई स्वतंत्र तत्त्व है ? इस विषय में चार दृष्टियां हमारे सम्मुख हैं—

१. चेतना ही एकमात्र तत्त्व है। चेतन ही जड़ बनता है। यह वेदान्त का मत है।
२. जड़ ही एक मात्र तत्त्व है। चेतना उसी से उद्भूत होती है। यह चार्वाक का मत है।
३. जड़ और चेतन दो पृथक् तत्त्व हैं किंतु दोनों एक-दूसरे से प्रभावित नहीं होते। यह सांख्य मत है।
४. जड़ और चेतन दो पृथक् तत्त्व हैं तथा दोनों एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। यह जैन मत है।

शरीर मुख्यतः चिकित्साशास्त्रियों का विषय है। चिकित्सा-शास्त्री मुख्यतः वैज्ञानिक होते हैं और वे दार्शनिक चर्चाओं में नहीं उलझा करते। आज जो तथ्य हमारे सम्मुख चिकित्साशास्त्रियों ने रखा है वह यह है कि जड़ को चेतन तथा चेतन को जड़ प्रभावित करते रहते हैं। कम से कम शरीर के संदर्भ में यह तथ्य प्रत्यक्ष गोचर है। इस विषय का प्रतिपादन हम पहले ही कर चुके हैं। यह सत्य है कि चिकित्साशास्त्र आत्मा नाम के तत्त्व को अभी तक नहीं मानता है किंतु विचारों और भावनाओं का शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता है—इसकी खोज चिकित्साशास्त्री निरन्तर कर रहे हैं।

क्वाण्टम सिद्धान्त और प्राण तत्त्व

एक विषय जो विज्ञान की खोज के कारण नयी दृष्टि लेकर उपस्थित हुआ है वह है शरीर में प्राण का महत्त्व। विज्ञान ने एक खोज की है कि हमारा पूरा विश्व जिन तत्त्वों से बना है वह तत्त्व "क्वाण्टम" है। "क्वाण्टम" का अर्थ है "ऊर्जासमूह"। जिसे विज्ञान "ऊर्जा" कहता है भारतीय दार्शनिक उसे ही

प्राण कहते हैं। प्राण कोई ठोस पदार्थ नहीं है। यह वह संजीवनी शक्ति है जो प्रत्येक पदार्थ को स्पन्दित करती है। हमारे पूरे शरीर में प्राण व्याप्त है। यद्यपि प्राण प्रत्यक्ष गोचर नहीं है तथापि प्राण का कार्य प्रत्यक्ष गोचर है। प्राण के कारण ही हमारे शरीर में वे सब क्रियायें हो रही हैं जो शरीर के अस्तित्व के लिए आवश्यक है। जब शरीर में प्राण नहीं रहता तो शरीर की ये क्रियाएं भी बंद हो जाती हैं और शरीर शव बन जाता है, तब हम कहते हैं कि यह शरीर निष्प्राण हो गया। प्राण का ही एक दूसरा रूप वायु अथवा पवन भी है। जहाँ-जहाँ हमारी चेतना जाती है वहीं पवन का भी संचार होने लगता है—

यत्र मनस्तत्र पवनः। बस यही तथ्य हमारे हाथ में हमारे शरीर की नकेल थमा देता है। हम शरीर के जिस भाग पर भी चित्त को ले जायेंगे वहीं प्राणों का प्रवाह होने लगेगा और जिस भाग में प्राणों का प्रवाह होने लगेगा वह भाग स्वस्थ होने लगेगा क्योंकि प्राणों का प्रवाह मल भाग को निकालकर बाहर फेंक देता है।

यह प्राण तत्त्व ही हमारे शरीर को शक्ति देता है। भौतिक क्षेत्र में जैसे किसी पदार्थ का विद्युच्चुम्बकीय क्षेत्र होता है वैसे ही हमारे शरीर का भी एक विद्युच्चुम्बकीय क्षेत्र है जिसे आभामण्डल कहा जाता है। यह आभामण्डल हमारे शरीर तक ही सीमित नहीं है अपितु शरीर के चारों ओर, शरीर के बाहर भी फैला है। यह ओज तत्त्व है जो वीर्य का सार है। जो अन्न हम खाते हैं वह रक्त, मांस, मज्जा आदि का निर्माण करते हुए अंत में वीर्य बनता है। यह वीर्य ही और अधिक परिष्कृत होने पर ओज बन जाता है। वीर्य पार्थिव है, ओज अन्तरिक्ष्य है। वीर्य शरीर के अन्दर है, ओज शरीर के बाहर रहता है। यही ओज महापुरुषों के चित्रों में सिर के चारों ओर आभामण्डल के रूप में दिखला दिया जाता है। वह कलाकार की कल्पना है किंतु यह कल्पना इस वास्तविकता पर टिकी है कि हमारे शरीर के चारों ओर वस्तुतः एक ओजमण्डल है। ऊपर हमने कहा कि दार्शनिक जिसे प्राण कह रहे थे आज का वैज्ञानिक उसे ही क्वाण्टम कह रहा है। यह "क्वाण्टम" विज्ञान की कृपा से आज प्रत्यक्षवत् हो गया है। पुरानी भाषा का प्रयोग करें तो क्वाण्टम अतीन्द्रिय है किंतु विज्ञान ने इतने सूक्ष्म और शक्तिशाली उपकरण आविष्कृत कर दिए हैं कि कल तक जो इन्द्रियातीत था वह आज उन उपकरणों की सहायता से प्रत्यक्ष हो गया है। चार्वाक का आग्रह है कि वह प्रत्यक्ष को ही मानेगा। विज्ञान ने जो कल तक प्रत्यक्ष नहीं था उसे भी आज प्रत्यक्ष-गम्य बना दिया है। अतः प्रत्यक्षवादी को भी जो तत्त्व कल तक मान्य नहीं थे, आज वे तत्त्व मानने पड़ रहे हैं।

परस्पररोपग्रहो जीवानाम्

क्वाण्टम एक ऊर्जासमूह है। इस ऊर्जा समूह से ही समस्त भूत-भौतिक

नास्तिक उसे कहते हैं जो कर्मफल और पुनर्जन्म को न माने और इस दृष्टि से जैन तथा बौद्ध भी आस्तिक हैं। ईश्वर को न मानने वाले तो सांख्य तथा मीमांसक भी हैं किंतु वे वेद को मानते हैं। वेदान्ती ईश्वर को मानते हैं किंतु उनका ईश्वर नैयायिकों के ईश्वर से सर्वथा भिन्न है। जैसा ईश्वर, ईसाई या मुसलमानों का है वैसा ईश्वर वेदवादियों में शायद नैयायिकों का ही है। जैनाचार्य प्रायः ईश्वर की नैयायिक सम्मत अवधारणा का ही खण्डन करते हैं।

इस भूमिका के साथ प्रस्तुत प्रसंग में हमें चार्वाक की चतुर्थ मान्यता पर ही कुछ विशेष चर्चा करना अभिप्रेत है—क्या शरीर जड़ पदार्थों से ही मिलकर बना है और एक परिमाण विशेष में एक क्रम विशेष से मिलकर जड़ पदार्थ ही शरीर में चेतना उत्पन्न कर देते हैं अथवा चेतना कोई स्वतंत्र तत्त्व है ? इस विषय में चार दृष्टियां हमारे सम्मुख हैं—

१. चेतना ही एकमात्र तत्त्व है। चेतन ही जड़ बनता है। यह वेदान्त का मत है।
२. जड़ ही एक मात्र तत्त्व है। चेतना उसी से उद्भूत होती है। यह चार्वाक का मत है।
३. जड़ और चेतन दो पृथक् तत्त्व हैं किंतु दोनों एक-दूसरे से प्रभावित नहीं होते। यह सांख्य मत है।
४. जड़ और चेतन दो पृथक् तत्त्व हैं तथा दोनों एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। यह जैन मत है।

शरीर मुख्यतः चिकित्साशास्त्रियों का विषय है। चिकित्सा-शास्त्री मुख्यतः वैज्ञानिक होते हैं और वे दार्शनिक चर्चाओं में नहीं उलझा करते। आज जो तथ्य हमारे सम्मुख चिकित्साशास्त्रियों ने रखा है वह यह है कि जड़ को चेतन तथा चेतन को जड़ प्रभावित करते रहते हैं। कम से कम शरीर के संदर्भ में यह तथ्य प्रत्यक्ष गोचर है। इस विषय का प्रतिपादन हम पहले ही कर चुके हैं। यह सत्य है कि चिकित्साशास्त्र आत्मा नाम के तत्त्व को अभी तक नहीं मानता है किंतु विचारों और भावनाओं का शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता है—इसकी खोज चिकित्साशास्त्री निरन्तर कर रहे हैं।

क्वाण्टम सिद्धान्त और प्राण तत्त्व

एक विषय जो विज्ञान की खोज के कारण नयी दृष्टि लेकर उपस्थित हुआ है वह है शरीर में प्राण का महत्त्व। विज्ञान ने एक खोज की है कि हमारा पूरा विश्व जिन तत्त्वों से बना है वह तत्त्व "क्वाण्टम" है। "क्वाण्टम" का अर्थ है "ऊर्जासमूह"। जिसे विज्ञान "ऊर्जा" कहता है भारतीय दार्शनिक उसे ही

प्राण कहते हैं। प्राण कोई ठोस पदार्थ नहीं है। यह वह संजीवनी शक्ति है जो प्रत्येक पदार्थ को स्पन्दित करती है। हमारे पूरे शरीर में प्राण व्याप्त है। यद्यपि प्राण प्रत्यक्ष गोचर नहीं है तथापि प्राण का कार्य प्रत्यक्ष गोचर है। प्राण के कारण ही हमारे शरीर में वे सब क्रियायें हो रही हैं जो शरीर के अस्तित्व के लिए आवश्यक है। जब शरीर में प्राण नहीं रहता तो शरीर की ये क्रियाएं भी बंद हो जाती हैं और शरीर शव बन जाता है, तब हम कहते हैं कि यह शरीर निष्प्राण हो गया। प्राण का ही एक दूसरा रूप वायु अथवा पवन भी है। जहाँ-जहाँ हमारी चेतना जाती है वहीं पवन का भी संचार होने लगता है—**यत्र मनस्तत्र पवनः।** बस यही तथ्य हमारे हाथ में हमारे शरीर की नकेल थमा देता है। हम शरीर के जिस भाग पर भी चित्त को ले जायेंगे वहीं प्राणों का प्रवाह होने लगेगा और जिस भाग में प्राणों का प्रवाह होने लगेगा वह भाग स्वस्थ होने लगेगा क्योंकि प्राणों का प्रवाह मल भाग को निकालकर बाहर फेंक देता है।

यह प्राण तत्त्व ही हमारे शरीर को शक्ति देता है। भौतिक क्षेत्र में जैसे किसी पदार्थ का विद्युच्चुम्बकीय क्षेत्र होता है वैसे ही हमारे शरीर का भी एक विद्युच्चुम्बकीय क्षेत्र है जिसे आभामण्डल कहा जाता है। यह आभामण्डल हमारे शरीर तक ही सीमित नहीं है अपितु शरीर के चारों ओर, शरीर के बाहर भी फैला है। यह ओज तत्त्व है जो वीर्य का सार है। जो अन्न हम खाते हैं वह रक्त, मांस, मज्जा आदि का निर्माण करते हुए अंत में वीर्य बनता है। यह वीर्य ही और अधिक परिष्कृत होने पर ओज बन जाता है। वीर्य पार्थिव है, ओज अन्तरिक्ष्य है। वीर्य शरीर के अन्दर है, ओज शरीर के बाहर रहता है। यही ओज महापुरुषों के चित्रों में सिर के चारों ओर आभामण्डल के रूप में दिखला दिया जाता है। वह कलाकार की कल्पना है किंतु यह कल्पना इस वास्तविकता पर टिकी है कि हमारे शरीर के चारों ओर वस्तुतः एक ओजमण्डल है। ऊपर हमने कहा कि दार्शनिक जिसे प्राण कह रहे थे आज का वैज्ञानिक उसे ही क्वाण्टम कह रहा है। यह "क्वाण्टम" विज्ञान की कृपा से आज प्रत्यक्षवत् हो गया है। पुरानी भाषा का प्रयोग करें तो क्वाण्टम अतीन्द्रिय है किंतु विज्ञान ने इतने सूक्ष्म और शक्तिशाली उपकरण आविष्कृत कर दिए हैं कि कल तक जो इन्द्रियातीत था वह आज उन उपकरणों की सहायता से प्रत्यक्ष हो गया है। चार्वाक का आग्रह है कि वह प्रत्यक्ष को ही मानेगा। विज्ञान ने जो कल तक प्रत्यक्ष नहीं था उसे भी आज प्रत्यक्ष-गम्य बना दिया है। अतः प्रत्यक्षवादी को भी जो तत्त्व कल तक मान्य नहीं थे, आज वे तत्त्व मानने पड़ रहे हैं।

परस्परपग्रहो जीवानाम्

क्वाण्टम एक ऊर्जासमूह है। इस ऊर्जा समूह से ही समस्त भूत-भौतिक

पदार्थ—हमारा शरीर भी बना हुआ है। ये क्वाण्टम न्यूटन के ठोस परमाणु की भांति एक-दूसरे से पृथक्-पृथक् स्थित नहीं हैं अपितु एक-दूसरे में गुथ्यम-गुत्था होकर स्थित हैं, जिसके परिणाम स्वरूप विश्व का कोई अवयव विश्व के दूसरे अवयवों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। दो हजार वर्ष पहले जैन आचार्य उमास्वाति ने एक सूत्र दिया था कि एक जीव दूसरे जीव का उपग्रह करता है—परस्परोपग्रहो जीवानाम्। यद्यपि जैन परम्परा में आत्मा और जीव शब्द पर्यायवाची की तरह प्रयुक्त होते हैं किंतु वेदान्त इन दोनों में भेद करता है—वेदान्त अशरीरी चेतना के लिए “आत्मा” शब्द का तथा शरीरी चेतना के लिए “जीव” शब्द का प्रयोग करता है। आचार्य उमास्वाति के उपर्युक्त सूत्र में जीव का अर्थ शरीरी चेतना है। जहां भी शरीरी चेतनाएं हैं वे सब एक-दूसरे का उपग्रह किए हुए हैं—एक दूसरे को पकड़े हुए हैं। जब दो या दो से अधिक व्यक्ति आस-पास बैठते हैं तो दिखायी यह देता है कि वे अलग-अलग हैं किंतु उन सबका आभामण्डल भौतिक अर्थ में भी एक दूसरे के क्षेत्र में प्रविष्ट रहता है। अतः वे एक दूसरे से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। इस दृष्टि से सत्सङ्ग को श्रेयस्कर और दुर्जनों के सङ्ग को हेय बताया जाता है—**तजि मन हरिविमुखन को सङ्ग। जाके सङ्ग कुबुधि उपजत है, परत भजन में भङ्ग।** सत्सङ्ग की महिमा अपरम्पार है, सत्सङ्ग से सब कुछ हो सकता है। **सत्सङ्गतिः कथय किन्न करोति पुंसाम्।**

अन्धविश्वास नहीं है श्रद्धा

हम दूसरों से प्रभावित होते हैं किंतु यह प्रभाव यान्त्रिक नहीं है। न सत्संग का प्रभाव सब पर एक सा पड़ता है न कुसंग का। एक तत्त्व है—श्रद्धा। श्रद्धा का काम है मन को ग्रहणशील बना देना। जिसके प्रति हमारी श्रद्धा होती है उसके प्रति हमारा मन आर्द्र हो जाता है; बोलचाल की भाषा में कहा जाता है कि मन पिघल जाता है। श्रद्धा नाम है इस प्रह्वता/नम्रता का, इस आर्द्रता का। यह आर्द्रता हमें ग्रहणशील बना देती है। जिसके प्रति हमारी श्रद्धा है उसके गुणों को हम ग्रहण करते हैं, जिसके प्रति हमारी श्रद्धा नहीं है उसके संस्कार हम ग्रहण नहीं कर पाते। साधु-जनों के प्रति यदि हमारी श्रद्धा है—ग्रहणशीलता अथवा आर्द्रभाव है—तब ही हम सत्संग का लाभ उठा पाते हैं। अश्रद्धा का भी अपना उपयोग है। अश्रद्धा का अर्थ है—रूखापन। जिसके प्रति हम रूखे हैं उसके संस्कार हममें नहीं आते। दुर्जनों के प्रति अश्रद्धा ही श्रेयस्कर है—**माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ।**

न सत्संगति अन्धविश्वास का विषय है, न श्रद्धा। ये दोनों एक वैज्ञानिक सत्य हैं। प्रश्न होता है कि श्रद्धा किस पर करें? उत्तर है कि श्रद्धा का अन्तिम

लक्ष्य तो तत्त्वार्थ ही है—**तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्**। तत्त्व का अर्थ है कि जो जैसा है उस पदार्थ को वैसा ही जानना/मानना। सारी साधना सत्य की खोज है। हमारे अज्ञान और अन्धविश्वासों का अन्त नहीं है। धर्म अन्धविश्वास का मित्र नहीं है, अपितु अंधविश्वासों का शत्रु है। ऐसे कुछ अन्धविश्वासों की चर्चा करना अप्रासङ्गिक न होगा।

अहिंसा की सूक्ष्मता

एक अन्धविश्वास हमारे मन में रूढ़ है कि अग्नि, जल, वायु, पृथ्वी सब जड़ हैं। इनके साथ हम जैसा चाहे वैसा व्यवहार कर सकते हैं। विज्ञान ने एक बात सिद्ध कर दी है कि जिन पदार्थों को हम जड़ कह रहे हैं उनका भी अपना आभामण्डल है। इन जड़ पदार्थों का आभामण्डल भी हमें प्रभावित करता है। कल्पना करें कि हमारे मन में पृथ्वी के लिए यह भाव आया कि हम यहां से जमीन खोद डालें। हमने न तो अभी जमीन को खोदना शुरू किया है, न ही हमारे हाथ में इसके लिए फावड़ा आदि कोई औजार है। हमारे मन में सिर्फ पृथ्वी पर गड्ढा खोदने का विचार आया है। इस विचार के साथ ही हमारे आभामण्डल में परिवर्तन आ जाता है। यह परिवर्तन हमारे मन के हिंसा भाव को प्रकट करता है। किंतु इससे भी बड़े आश्चर्य की बात यह घटित होता है कि पृथ्वी के ओरा में भी परिवर्तन आ जाता है। जमीन के समस्त स्पन्दन बदल जाते हैं। जमीन के स्पन्दनों में दुःखपूर्ण तरंगें बन जाती हैं। पृथ्वी में होने वाले इस स्पन्दन से मैं अप्रभावित नहीं रह सकता। मेरे मन का हिंसा भाव मेरे आभामण्डल को कलुषित करता है। यह कलुष अन्ततोगत्वा स्वयं मेरे दुःख का कारण बन जाता है। यह मानसिक हिंसा का फल है।

आप जल को प्रताड़ित करें। जल के सहज स्पंदन बदल जायेंगे। वे स्पन्दन हमारे स्पन्दन को भी विकृत कर डालेंगे। हमारे विकृत स्पन्दन न हमारे मन को स्वस्थ रहने देंगे, न तन को। यह शारीरिक हिंसा का फल हुआ। यही स्थिति अग्नि और वायु की भी है। पशु-पक्षियों को तो जब हम पीड़ित करते हैं तो उनके चीत्कार के कारण हम उनकी वेदना का अनुमान कर लेते हैं। ये त्रस जीव हैं। किंतु हम वनस्पति पर प्रहार करते हैं तो वनस्पति की कोई ऐसी प्रतिक्रिया हमें प्रतीति में नहीं आती कि हम यह अनुमान कर सकें कि उन्हें भी पीड़ा हो रही है। अब सर जगदीशचन्द्र बोस ने वैज्ञानिक उपकरणों के माध्यम से वनस्पतियों की वेदना को भी प्रत्यक्ष करके दिखा दिया है।

अहिंसा की प्रासंगिकता

हमने अग्नि, जल, वायु और पृथ्वी की चर्चा ऊपर की है। विज्ञान अभी इनमें जीवन भले सिद्ध न कर पाया हो किंतु यह तो सिद्ध हो ही गया है कि

ये भी क्वाण्टम के ही समूह हैं। क्वाण्टम ऊर्जा है। ऊर्जा स्पन्दन उत्पन्न करती है। ये स्पन्दन ही स्थूल पदार्थ की आकृति-प्रकृति बनाते हैं। किसी के साथ किसी भी प्रकार का व्यवहार कीजिए—भले ही वह पदार्थ हमें जड़ ही क्यों न नजर आता हो—वह व्यवहार उस पदार्थ के स्पन्दनों को और उस पदार्थ के स्पन्दन हमारे स्पन्दनों को प्रभावित करते ही हैं। यही कर्म सिद्धान्त का मूल है, यही अहिंसा के सिद्धान्त का मार्ग है।

अहिंसा केवल क्रूरता का अभाव नहीं है, अहिंसा मैत्री का भाव भी है। श्रद्धा और मैत्री दोनों का जोड़ा है। श्रद्धा बड़ों के प्रति होती है, मैत्री बराबर वालों के साथ होती है तथा वात्सल्य छोटों के प्रति होता है। काम इन तीनों का एक ही है—चित्त को आर्द्र बना देना। जब चित्त आर्द्र हो जाता है तो हमारे मन से यही आवाज आती है **सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्।** सर्वहित की यह भावना एक बहुत शक्तिशाली उपकरण है। जब हम सबके प्रति कल्याण का भाव रखते हैं तो बदले में सब भी हमारे प्रति कल्याण का भाव रखेंगे। यह कल्याण की भावना केवल निराकार पदार्थ नहीं है, यह एक साकार तरंग है जो बहुत शक्तिशाली है और जो हमारे व्यक्तित्व में एक सौम्य रूपान्तरण ला देती है।

सूक्ष्म की शक्ति

हमारा एक दूसरा अन्धविश्वास यह है कि स्थूल पदार्थ शक्तिशाली होता है; सूक्ष्म पदार्थ निर्बल होता है। वस्तुस्थिति इससे विपरीत है। सूक्ष्म पदार्थ स्थूल की अपेक्षा बहुत शक्तिशाली होता है। हम यह मानते हैं कि किसी ने हमें एक लाख रुपये दे दिए तो यह बहुत बड़ी बात हो गयी। किसी ने हमें शुभकामना दी या आशीर्वाद दिया तो हम मान लेते हैं कि यह तो साधारण बात है। सच यह है कि एक लाख की राशि सीमित है, शुभकामना अथवा आशीर्वाद की शक्ति को आंकना कठिन है। बड़े-बड़े सम्राट् विश्व को वे नहीं दे पाए जो ज्ञानी जन दे गए हैं। सम्राटों के पास धनबल था और भुजबल भी था। उसका उपयोग उनके समय के कुछ लोगों के लाभ के लिए हो गया। किंतु जो उपनिषद्, आगम, बाइबल अथवा त्रिपिटक का ज्ञान दे गये वे अनन्त काल तक अनन्त मनुष्यों का उपकार करते रहेंगे। शक्ति भले ही स्थूल पदार्थ में हो भी, किंतु आनन्द सदा ज्ञान, कला और विचारों में सन्निहित रहता है। शरीर के प्रसंग में हम स्थूल हाड़-मांस को महत्त्व देते रहते हैं, किंतु महत्त्वपूर्ण प्राण है। प्राण ही हाड़-मांस को ढालता है। प्राण सूक्ष्म है। भारतीय परम्परा चिकित्सक को फिजिशियन (शरीरशास्त्री) नहीं कहती—अपितु प्राणाचार्य कहती है। चिकित्सा प्राणों की करनी है, शरीर तो प्राणों का अनुचर है।

चेतना का जड़ पर प्रभाव

प्राणों पर भावों का प्रभाव गोचर है। क्रोध में हमारा श्वास तेज चलने लगता है। सम्भोग के समय भी श्वासों की गति तीव्र हो जाती है। यह श्वासों की गति केवल प्राणों तक ही सीमित नहीं रहती। यह पूरे शरीर की रासायनिक क्रिया को प्रभावित करती है। इस प्रकार चेतना शरीर का निर्माण करती रहती है। जैन परम्परा कहती है कि जब भी कोई भाव हममें उत्पन्न होता है, तत्काल प्रकृति में भी एक प्रतिक्रिया होती है। हमारे भाव सीधे प्रकृति को स्थूल स्तर पर प्रभावित नहीं करते। प्रकृति का एक सूक्ष्मतरंग रूप है जिसे कर्म से प्रभावित होने के कारण कर्मण वर्गणा कहा गया है। अच्छे या बुरे भाव अथवा कर्म के कारण तदनु रूप कर्मण वर्गणा हमारी चेतना से सम्बद्ध हो जाती है। बदले में कालान्तर में यह कर्मण वर्गणा हमारे भावों को तथा क्रियाओं को प्रभावित करती है।

जिसे हम बन्धन कहते हैं, वह केवल मानसिक नहीं है, भौतिक भी है। प्रकृति की सूक्ष्मतरंग कर्मण वर्गणाओं से बना कर्मण शरीर चेतना से क्षेत्रीय तथा भावात्मक दोनों अर्थों में चिपटकर चेतना की शुद्धता को ढक लेता है। यही दुःख का कारण बनता है—**आश्रवो भवहेतुः स्यात्।** यदि इन कर्मण वर्गणाओं का आना रोका जा सके तो हम अपने शुद्ध रूप में स्थिर हो सकते हैं—**संवरो मोक्षकारणम्।** जैन साधना का मूल सूत्र तो यही है, शेष सब इसका विस्तार है—

आश्रवो भवहेतुः स्यात् . संवरो मोक्षकारणम्।

इतीयमार्हतीदृष्टिरन्यदस्याः प्रपञ्चनम् ॥

शरीर के संबंध में विज्ञान ने सबसे महत्त्वपूर्ण जानकारी यही दी है कि शरीर की कोई भी क्रिया चेतना की सहायता के बिना नहीं होती है। उदाहरण के लिए पाचन की क्रिया को लें। पाचन क्रिया अन्न से रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि, वीर्य सब कुछ बना देती है। अन्न से बनने वाले ये पदार्थ केवल शरीर के अन्दर ही बन सकते हैं। शरीर के बाहर अन्न से हम रक्त की एक बूंद भी प्रयोगशाला में नहीं बना सकते हैं। अन्न से रक्त कैसे बनता है—यह प्रक्रिया हमें मालूम है किंतु उस प्रक्रिया को शरीर के बाहर हम प्रयोगशाला में इसलिए नहीं दोहरा सकते कि शरीर के बाहर चेतना उपलब्ध नहीं है। यदि शरीर के सभी घटकों का निर्माण चेतना कर रही है, भले ही वह निर्माण अन्न से हो रहा हो, तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि शरीर के निर्माण में केवल यही महत्त्वपूर्ण नहीं है कि हम खाते क्या हैं अपितु यह भी महत्त्वपूर्ण है कि जो कुछ हम खाते हैं, चेतना उसका उपयोग किस प्रकार करती है। चेतना अपना कार्य किस

प्रकार करे यह चेतना की स्थिति पर निर्भर करता है। चेतना की मुख्यतः तीन स्थितियां हैं—एक विधायक स्थिति जिसे शुभोपयोग कहा जाता है, एक निषेधात्मक स्थिति जिसे अशुभोपयोग कहा जाता है तथा तीसरी स्थिति वह है जिसमें चेतना परमुखापेक्षी न होकर स्व में स्थित रहती है। इस तीसरी स्थिति को शुद्धोपयोग कहा जाता है। हम प्रसन्नता की मुद्रा में, शान्त मन से सबके प्रति मैत्री भाव रखते हुए कार्य कर रहे हैं यह चेतना का शुभोपयोग है। हम दुःखी होकर अशान्त एवं विक्षिप्त मन से सबके प्रति असंतोष के भाव को रखते हुए कार्य कर रहे हैं, यह चेतना का अशुभोपयोग हुआ। हम सुख दुःख से ऊपर उठकर केवल दृष्टाभाव में स्थित हैं, यह चेतना का शुद्धोपयोग है।

बाह्य संसार एक : अन्दर के संसार सबके अलग-अलग

हमारे चारों ओर निरन्तर घटनाएं घटित होती रहती हैं। वे घटनाएं हमारे बाहर घटित होती हैं। हम इन घटनाओं को जानते हैं। यहाँ तक हम घटनाओं के द्रष्टा होते हैं। जहाँ तक हम घटनाओं के द्रष्टा होते हैं, हम घटनाओं से प्रभावित नहीं होते किंतु प्रायः हम घटनाओं के द्रष्टा बहुत समय तक नहीं रह पाते। हम उन घटनाओं के प्रति अपनी प्रतिक्रिया भी करते हैं। यह प्रतिक्रिया महत्त्वपूर्ण है। घटना हमारे आधीन नहीं है, घटना को जानना अथवा न जानना भी हमारे आधीन नहीं है। घटना घटेगी तो हम उसे जानेंगे भी। घटना का यह जानना सबका समान होता है किंतु उस घटना के प्रति सबकी प्रतिक्रिया समान नहीं होती, बल्कि कभी-कभी तो दो व्यक्तियों की यह प्रतिक्रिया एक दूसरे के सर्वथा विरुद्ध भी होती है। प्रतिक्रिया की इस विविधता का कारण हमारे मन के पूर्व संचित संस्कार हैं। हम सबके संस्कार एक जैसे नहीं हैं, अतः हम सबकी प्रतिक्रिया एक जैसी नहीं हो सकती। वस्तुतः एक संसार हमारे बाहर है, वह सबके लिए एक जैसा है किंतु एक संसार हमारे अंदर है, वह सबका भिन्न-भिन्न है तथा उसके कारण हम सब बाहर के संसार को एक जैसा नहीं देख पाते हैं; हमारे बाहर का संसार जब अन्दर के संसार पर प्रतिबिम्बित होता है तो प्रत्येक व्यक्ति के लिए अलग-अलग हो जाता है। हममें से प्रत्येक व्यक्ति अपने अन्दर एक अलग तरह का संसार लिये फिरता है जिसका निर्माण वह स्वयं करता है।

यदि हम विधायक दृष्टिकोण लेकर चलते हैं तो हम बाहर के संसार को अपने अनुकूल ढालकर उसकी व्याख्या करते हैं। ऐसे में हमें सब अपने अनुकूल लगते हैं, अतः सहज ही हमारा सबके प्रति मैत्री भाव प्रस्फुटित हो उठता है। निषेधात्मक दृष्टिकोण वाले व्यक्ति को सब कुछ प्रतिकूल प्रतिभासित होता है। अतः वह किसी के प्रति मैत्री नहीं रख सकता। यह एक स्थिति है।

एक दूसरी स्थिति यह है कि जब कोई व्यक्ति हमारी रुचि के अनुकूल व्यवहार करता है तो वह हमें अपना मित्र प्रतीत होता है, यदि वही व्यक्ति हमारे प्रतिकूल व्यवहार करे तो हमें शत्रु प्रतीत होने लगेगा। यह मैत्री सशर्त है; हममें से अधिकतर ऐसी ही मैत्री कर पाते हैं। यह मैत्री वस्तुतः मैत्री नहीं, राग है। वास्तविक मैत्री तो उस विधायक दृष्टि का परिणाम है जहां हम किसी भी परिस्थिति की अपने अनुकूल व्याख्या करना सीख लेते हैं।

अपने शुद्ध रूप की झलक

अनुकूलता-प्रतिकूलता पर विचार करें कि वस्तुतः हमारे अनुकूल या प्रतिकूल क्या है। जहां शुभ-अशुभ है वहां तक अनुकूलता-प्रतिकूलता का द्वन्द्व भी है। शुद्ध भाव में न कुछ अनुकूल है न प्रतिकूल। इस शुद्ध भाव की एक झलक हमें अपनी दैनन्दिनचर्या में भी कभी-कभी मिलती रहती है। कल्पना करें कि हम प्रातः शय्या से अभी उठे ही हैं। सुषुप्ति में हमारे संस्कार भी सुषुप्त हो गए थे। उस समय न हमें कुछ अनुकूल प्रतीत हो रहा था, न कुछ प्रतिकूल। बस हमें केवल अपने अस्तित्व का बोध था। हमारी आंखें खुल गयी हैं। कुछ क्षणों के लिए हमारे सुषुप्त संस्कार अभी जाग नहीं पाए हैं। उस क्षण में जाग जाने पर भी हम अनुकूलता-प्रतिकूलता का बोध नहीं कर पाते हैं। न उस समय हमें यह बोध है कि हमने कल तक क्या किया था, न हमें यह बोध है कि हमें आज आगे क्या करना है। हम उस समय केवल वर्तमान को देख रहे होते हैं, अतीत की स्मृति या भविष्य की कल्पना अभी हमें नहीं घेर पाती है। यह स्थिति केवल कुछ क्षण ही रह पाती है और फिर तत्काल सारे संस्कार उद्बुद्ध हो जाते हैं। संस्कार उद्बुद्ध होने से पूर्व के कुछ क्षण में हम सब एक जैसे होते हैं—न कोई गरीब है, न कोई अमीर, न कोई छोटा है, न कोई बड़ा, न कोई सुखी है, न कोई दुःखी। उस समय हम सब अपने शुद्ध द्रष्टा भाव में एक समान हैं। किंतु जैसे ही हमारे संस्कार हमें घेरते हैं, हम सब भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। हममें से किसी को याद आता है कि आज उसका जन्मदिन है तो वह प्रफुल्लित हो उठता है, उसे ख्याल आता है कि आज उसके मित्र उसके घर बधाई देने आने वाले हैं। हममें से किसी को ख्याल आता है कि आज उसके मुकदमे का फैसला सुनाया जाने वाला है तो वह तत्काल तनावपूर्ण मनःस्थिति में आ जाता है। वह अपने इष्ट देव का स्मरण करने लगता है कि उसे मुकदमे में सफलता मिले। कहने का अभिप्राय यह है कि हम सबके मन तरह-तरह के प्रपंचों से भर जाते हैं। इस प्रपंचों से भरे स्वरूप को ही हम अपना असली स्वरूप मान बैठे हैं जबकि वास्तविकता यह है कि हमारा वास्तविक स्वरूप वह था जो संस्कारों के उद्बुद्ध होने से पहले था और

निष्प्रपञ्च था। यहां यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि जिसे हम निष्प्रपञ्च कह रहे हैं वह भी वस्तुतः निष्प्रपञ्च है नहीं क्योंकि संस्कारों का अस्तित्व अभी हममें बना हुआ है भले ही पूर्ण रूप से अभिव्यक्त न हुआ हो किंतु सुप्त स्थिति में संस्कार हैं अवश्य। अतः वे हमारे वास्तविक स्वरूप को तो प्रतीति में नहीं आने देते। फिर भी उनके जाग्रत होने तक के कुछ क्षणों में हमें अपने निष्प्रपञ्च शुद्ध स्वरूप की एक फीकी सी झलक मिल सकती है।

अपना सत्य स्वयं खोजें

प्रायः प्रपञ्चों से भरा हमारा मन ही हमारा मार्गदर्शन करता रहता है। ये प्रपञ्च ही हमें अनुकूलता-प्रतिकूलता का बोध कराते हैं। इन्हीं प्रपञ्चों के कारण हम राग-द्वेष से ऊपर नहीं उठ पाते। ये प्रपञ्च अनादि काल से संस्कारों के रूप में हमारे साथ लगे हैं। राग-द्वेष की पृष्ठभूमि से हमारे समस्त विचार उद्भूत होते हैं। हम इस अंधविश्वास में जी रहे हैं कि हम विचारों के माध्यम से सत्य को जान लेंगे। एक ही तथ्य अलग-अलग व्यक्ति को अलग-अलग नजर आता है। यह विचार-भेद की करामात है। विचार के द्वारा सत्य को जानने का प्रयत्न जिन्होंने किया उन्होंने सत्य को सदा भिन्न-भिन्न रूप में ही जाना। अतः सत्य विवाद का कारण बन गया। वेद में एक शब्द आया "मम सत्यम्" अर्थात् "मेरा सत्य"। इस शब्द का टीकाकारों ने अर्थ किया—युद्ध। "मेरा सत्य" यह युद्ध कैसे बन गया? टीकाकार ठीक कह रहे हैं। संघर्ष का मूल है सत्य के साथ ममत्व का संबंध जोड़ देना। यदि सत्य मेरा है तो दूसरा उसे क्यों स्वीकार करने लगा ? यदि हम दूसरे का सत्य स्वीकार कर भी लें तो वह सत्य मृत होगा। सत्य एक जीवित घटना है, उसे मेरे अन्दर से उपजना चाहिए, सत्य दूसरे से उधार नहीं लिया जा सकता। अपना सत्य स्वयं खोजें—**अप्पणा सच्चमेसेज्जा**। पर दूसरे के सत्य से टकराये नहीं, सबके प्रति मैत्री भाव रखें—**मितिं भूयेसु कप्पए**।

तक्का तत्थ न विज्जइ

अपना सत्य खोजें, पर विचार के द्वारा नहीं, निर्विचारता के द्वारा विचार उत्पन्न होते हैं और विलीन हो जाते हैं। हम उस उद्गम तक जायें जहाँ से विचार उत्पन्न हो रहे हैं और जहाँ विलीन हो रहे हैं। विचार जहाँ से उत्पन्न होते हैं, वहाँ विचार नहीं है, निर्विचारता है। विचार जहाँ लीन हो जाते हैं वहाँ भी निर्विचारता ही है। शब्द जहाँ से आ रहे हैं, वहाँ शब्द नहीं है, मौन है। हम शब्दों पर न जायें, उस नीरवता तक जायें जहाँ से शब्द आ रहे हैं। परम तत्त्व वह नहीं है जहाँ पर विचार जाता है, परम तत्त्व वह है जहाँ से विचार आता है।

यन्मनसा न मुनते, येनाहुर्मनो मतं।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते।

हम शब्दों में उलझ रहे हैं। शब्द इतना उलझाते हैं कि वेदान्तियों ने तो रूप के साथ-साथ नाम को भी माया ही घोषित कर दिया। जैनों ने शब्द को आकाश का गुण नहीं माना, उन्होंने शब्द को स्वयं एक पुद्गल अर्थात् जड़ मान लिया। जो जड़ में फंसा है वह चेतन को क्या पायेगा ? हाँ, जड़ भी चेतन को पाने का साधन बन सकता है। हम शब्द पर न अटक कर वहाँ तक पहुंचें जहाँ से शब्द उत्पन्न होता है, जहाँ से शब्द का स्फोट होता है तो हम शब्द ब्रह्म तक पहुंच सकते हैं। जहाँ से शब्द आ रहे हैं, वहाँ शब्द नहीं है, वहाँ मौन है—

यद्वाचा न वदति येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।

एक शिष्य को शब्दों का बहुत शौक था। गुरु से पूछा—आत्मा का स्वरूप क्या है—कोऽयमात्मा ? गुरु मौन रहे। शिष्य ने फिर पूछा। गुरु फिर मौन रहे। शिष्य ने फिर पूछा। गुरु ने कहा कि “मैं तो आत्मा का स्वरूप बता रहा हूँ पर तुम समझ नहीं पा रहे हो—यह आत्मा मौन है”।—

अहं तु ब्रवीमि, त्वं तु न वेत्सि, उपशान्तोऽयमात्मा।

आत्मा कहें, ब्रह्म कहें, द्रष्टा कहें—एक ही बात है। द्रष्टा बोलता नहीं है, वह मौन रहता है। जैनों के दिगम्बर सम्प्रदायानुसार तीर्थङ्कर चुप रहते हैं। द्रष्टा साक्षिभाव से देखता है तो दृश्य भी बदल जाता है। तीर्थङ्कर साक्षिभाव में रहते हैं, बोलते नहीं हैं तो दृश्यमान् में से एक ध्वनि विखरने लगती है—दिव्य-ध्वनि। उसी दिव्य-ध्वनि को सब अपनी-अपनी वैखरी वाक् में समझ लेते हैं।

साक्षी केवल देखता ही नहीं बदलता भी है

द्रष्टा का साक्षिभाव से देखना दृश्य को भी बदल देता है। कार्लमार्क्स ने कहा था कि अन्य दार्शनिक दुनिया को जानने की कोशिश करते हैं, मैं दुनिया को बदलने की कोशिश करता हूँ। कार्लमार्क्स ने ज्ञान की महिमा को समझा नहीं। जब हम किसी को बदलने का प्रयत्न करते हैं तो वह ऊपर से तो बदल सकता है, पर अन्दर से वह वही रहता है, बदलता नहीं क्योंकि हम किसी के अन्दर बैठकर उसे नहीं बदल सकते। किंतु जब हम किसी को जानते हैं तो हम उसके अन्दर पैठ जाते हैं, और वह अन्दर से बदल जाता है। अन्दर से बदल जाना ही बदल जाना है। ऊपर से बदलने वाले तो बहुरूपिया हुआ करते हैं।

जब हम शरीर को जानते हैं तो शरीर अन्दर से बदलना प्रारम्भ हो जाता है, जब हम शरीर को औषधियों से बदलना चाहते हैं तो वह अन्दर से तो बदलता नहीं, ऊपर से बदलता है किंतु शरीर इस बल-प्रयोग का बदला लेता है। औषधि से एक रोग दूर होता है तो दूसरा रोग उभर आता है। जिसने एक बार औषधि ली वह भविष्य के लिए औषधि का गुलाम हो गया। ध्यान औषधि नहीं है, वह शरीर को जानने का उपक्रम है। जब हम शरीर के यथार्थ स्वरूप को जानते हैं, तो शरीर के प्रति हमारा दृष्टिकोण बदल जाता है। हम शरीर को साक्षिभाव से देखकर शरीर के वास्तविक स्वरूप को जानते ही नहीं हैं, शरीर की आन्तरिक प्रक्रिया को बदल भी देते हैं।

शरीर भी संस्कारों का वाहक है

एक घटना को लें। हम समझते हैं कि शरीर का कोई अंग कटकर हमसे अलग हो गया तो अब वह अंग एक मांस का लोथड़ा है, उसमें ऐसा कुछ नहीं रहा जिसे हम अपना विचार या भावना कह सकें। किंतु प्रमाण इसके विरुद्ध है। एक अत्यंत अमीर व्यक्ति की दायें हाथ की अंगुलियां दुर्घटना में कट गयीं। उसी समय एक दूसरा व्यक्ति दुर्घटनाग्रस्त होकर मर गया। शल्य चिकित्सकों ने उस व्यक्ति की जो अभी-अभी मरा था हाथ की अंगुलियां काटकर उस अमीर व्यक्ति के हाथ में प्रत्यारोपित कर दीं। अमीर व्यक्ति के हाथ में उंगलियां जुड़ गयीं और वह उन अंगुलियों से सभी सामान्य कार्य करने लगा। एक दिन उस व्यक्ति को पकड़कर पुलिस ने न्यायालय में पेश किया। आरोप यह था कि उसने कुछ लोगों की जेब से पैसे निकाल लिये थे। यह व्यक्ति साधारण अमीर नहीं था, अरबपति था। उसने दूसरों की जेबों से दस-पांच रुपये ही निकाले थे। पहली बहुत रोचक थी कि एक अरबपति व्यक्ति दूसरों की जेबों से दस-पांच रुपये निकालने का काम करता फिरे—यह बात समझ में आने लायक नहीं थी। खोज की गयी तो यह बात सामने आयी कि इस अरबपति के हाथों में जिस व्यक्ति की अंगुलियां प्रत्यारोपित की गयी थी वह व्यक्ति पेशेवर जेबकतरा था। उसने अपनी उन अंगुलियों से न जाने कितने लोगों की जेब से पैसा निकाला था। जिन अंगुलियों को शल्यचिकित्सकों ने अब उस अरबपति के हाथ में प्रत्यारोपित कर दिया था, उन अंगुलियों में संस्कार था दूसरों की जेब से पैसे निकालने का। वे अंगुलियां अरबपति के हाथ में एक जड़ मांस खण्ड की तरह नहीं आयी अपितु उस जेबकतरे के जेब से पैसे निकालने का संस्कार साथ लेकर आयी। अरबपति को मालूम भी नहीं कि उसकी अंगुलियां क्या कर रही हैं किंतु वे जेबों से पैसा निकालने का काम कर रही थीं।

शरीर के मरने पर विचार नहीं मरता

यह घटना कोई आकस्मिक घटना नहीं है, उसके पीछे एक गहरा तथ्य है। जब हम कुछ सोचते हैं तो हमारी वह सोच हमारे शरीर की प्रत्येक कोशिका पर अंकित हो जाती है। यदि वह कोशिका हमसे कटकर अलग भी हो जाये तो भी हमारे उस चिन्तन के संस्कार को अपने साथ ले जाती है। हमारा चिन्तन इस प्रकार हमारे शरीर का रूपान्तर करता रहता है। इस प्रकार हमारा विचार हवा में नहीं खो जाता, शरीर में सुरक्षित रह जाता है। जैन आगमों में भगवती-सूत्र का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उसमें बहुत से वैज्ञानिक तथ्यों का संकलन है। भगवती सूत्र कहता है कि यदि एक व्यक्ति मर जाये और श्मशान में पड़ी उसकी हड्डी को शस्त्र रूप में इस्तेमाल करके कोई व्यक्ति किसी प्राणी की हत्या कर दे तो उस हत्या की जिम्मेदारी उस व्यक्ति की मानी जायेगी जिसकी वह हड्डी है। देखने में बात बिलकुल गलत लगती है लेकिन विश्व के नियम बहुत विचित्र हैं। हमारी हड्डी भी हमारे संस्कारों से संस्कारित हुये बिना नहीं रहती। हम हिंसक विचारों को पालते रहते हैं तो वे हिंसक विचार हमारे कण-कण में व्याप्त हो जाते हैं। जिस हड्डी से किसी अन्य व्यक्ति ने किसी को मारा, वह हड्डी किसी अहिंसक व्यक्ति की नहीं हो सकती। जिस व्यक्ति की वह हड्डी है आज वह हड्डी उस व्यक्ति से भले ही जुड़ी हुई नहीं है किंतु वह व्यक्ति अपनी उस हिंस्र मनोवृत्ति की जिम्मेदारी से बच नहीं सकता जिसे हिंस्र मनोवृत्ति ने उस हड्डी में वे हिंस्र तरंगें—(वेव)—पैदा कर दी, जिनसे प्रभावित होकर किसी व्यक्ति को यह सूझा कि वह उस हड्डी को हथियार रूप में इस्तेमाल करके किसी की हत्या कर दे। सूक्ष्म जगत् के नियम बिलकुल अलग भी हैं, बहुत चौंकाने वाले भी हैं।

सूक्ष्म से स्थूल की ओर

वैज्ञानिक जैसे-जैसे सूक्ष्म जगत् में प्रवेश कर रहे हैं, उनके सामने स्पष्ट हो रहा है कि सूक्ष्म स्थूल को कैसे प्रभावित करता है; भाव कैसे हमारे सूक्ष्म शरीर को और सूक्ष्म शरीर कैसे हमारे स्थूल शरीर को प्रभावित करता है। हमारा गहरा दुःख तो एक सूक्ष्म वस्तु है उसका न कोई आकार है न कोई ऐसा चिन्ह जिसे हम देख सकें या छू सकें, दुःख का केवल हम अनुभव कर सकते हैं किंतु वही दुःख तत्काल साकार बनकर आंखों से आंसुओं के रूप में छलक पड़ता है। यह सूक्ष्म द्वारा स्थूल के प्रभावित होने का प्रत्यक्ष प्रमाण है। मजेदार बात यह है कि बिना दुःख के यदि हम आंखों में आंसू लाना चाहे तो आंसू आयेंगे ही नहीं। कुशल अभिनेताओं को भी जब नाटक आदि में रोना

पड़ता है तो कृत्रिम उपायों से ही आंसू लाने पड़ते हैं, स्वाभाविक खुशी के मौके पर भी आंसू आ जाते हैं किंतु दुःख के आंसुओं का और सुख के आंसुओं का रसायनिक विश्लेषण भिन्न होता है।

दर्शन और विज्ञान दोनों कारण-कार्य की शृंखला पर विचार करते समय एक निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि कार्य स्थूल होता है, कारण सूक्ष्म होता है। एक छोटे से बीज से इतना बड़ा वट वृक्ष उत्पन्न हो जाता है। जब हम अपने कारण की खोज में निकलते हैं तो शरीर का कारण प्राण प्रतीत होता है। जब प्राण के भी कारण की खोज करते हैं तो पता चलता है कि प्राण से सूक्ष्म मन है। जहां मन जाता है वहीं प्राण जाता है—यह हम पहले ही बता चुके हैं। जब मन की प्रवृत्तियों की भी खोज करते हैं तो पता चलता है कि विचार मन को घुमाते रहते हैं। जब विचारों के मूल की खोज करते हैं तो हम भाव तक पहुंचते हैं। भाव का भी मूल है—चेतना। चेतना से परे कुछ नहीं है—**सा काष्ठा सा परागतिः**। यह चेतना पांच कोशों में बंद है—भाव में विचार, विचार में मन, मन में प्राण तथा प्राण में शरीर सन्निहित है। चेतना भाव से भी परे है—भावातीत है। शरीर को अन्नमय, प्राण को प्राणमय, मन को मनोमय, विचार को विज्ञानमय तथा भाव को आनन्दमय कोश कहा जा सकता है। चेतना सुख-दुःख, अनुकूल-प्रतिकूल से परे द्वन्द्वातीत है। उसी चेतना को हमने ऊपर द्रष्टा साक्षी कहा है। हम द्वन्द्व में जीते हैं तो चेतना हमसे चूक जाती है। हम द्वन्द्वातीत साक्षिभाव में जायें तो चेतना के शुद्ध रूप का साक्षात्कार हो, पर सामान्यतः यह यात्रा क्रमशः की जाती है। शरीर से प्राण, प्राण से मन, मन से विचार तथा विचार से भाव तक की यात्रा करनी होती है। तब भावातीत तक पहुंचा जाता है। इस सारी यात्रा में साक्षिभाव ही मुख्य है। शरीर, प्राण, मन, विचार तथा भाव सबको देखें, पर साक्षिभाव से। यही प्रेक्षाध्यान है।

साक्षी द्रष्टा है। दृश्य बदलता है, द्रष्टा वही रहता है। पांच वर्ष की अवस्था में भी मैं अपने को और दूसरों को देख रहा था, आज ६२ वर्ष की अवस्था में भी मैं अपने को और दूसरों को देख रहा हूं। दृश्य बदल गये हैं किंतु द्रष्टा देखने वाला वही है। जिसने पांच वर्ष की अवस्था में देखा था और जो ६२ वर्ष की अवस्था में देख रहा है—वे दोनों एक ही हैं। यह द्रष्टा ही आत्मा है। यह द्रष्टा जब अपने को दृश्य से एकाकार कर लेता है तो लगता है कि द्रष्टा बदल रहा है, क्योंकि द्रष्टा और दृश्य में भेद न कर पाने के कारण दृश्य का बदलना द्रष्टा का ही बदलना समझ लिया जाता है। जब हम द्रष्टा और दृश्य में भेद करते हैं तो पता चलता है कि द्रष्टा नहीं बदला। यही जैन का भेद-विज्ञान है और यही सांख्य की विवेक-ख्याति है; द्रष्टा जब साक्षिभाव

में अपने को दृश्य से अलग करके देखता है तो पता चलता है कि दृश्य आते हैं और जाते हैं किंतु द्रष्टा बना रहता है। यही आत्मा का अजरत्व है और यही अमरत्व है।

वार्धक्य जरा नहीं है

बुढ़ापा आता है तो आत्मा बूढ़ी नहीं होती, शरीर बूढ़ा होता है। जो शरीर को ही आत्मा समझ लेते हैं वे बूढ़े होने पर अपने को भी बूढ़ा मान लेते हैं—उनका मनोबल गिर जाता है। जो द्रष्टा को दृश्य से अलग करके देख सकते हैं वे शरीर के बूढ़ा हो जाने पर भी अपने को बूढ़ा नहीं मान बैठते—उनका उत्साह पूर्ववत् ही बना रहता है। बुढ़ापे को बतलाने के लिए संस्कृत में दो शब्द हैं—जरा और वृद्धता। शरीर के अवयव एक कालावधि के बाद जीर्ण होना प्रारम्भ होते हैं—उनका यह स्वभाव है। यह जरा है—यह शरीर का धर्म है। किंतु कालावधि के साथ ज्ञान की वृद्धि होती है, यह वृद्धता है—यह आत्मा का धर्म है।

महाकवि कालिदास ने जरा और वृद्धता के बीच भेद किया है। उन्होंने लिखा कि राजा दिलीप का युवावस्था में भी धर्म के प्रति प्रेम था अतः वे जरा के बिना भी वृद्ध हो गये थे—

तस्य धर्मरतेरासीद् वृद्धत्वं जरसा बिना।

दिलीप की अवस्था कम थी अतः उनका शरीर जीर्ण नहीं हुआ था किंतु उनकी बुद्धि में परिपक्वता आ गयी थी कि वे विषयों के प्रति आकृष्ट न होकर धर्म के प्रति ही आकृष्ट होते थे—यही उनकी वृद्धता थी।

मनु ने भी जरा और वृद्धता के बीच भेद किया है। बालों का सफेद होना जरा का लक्षण है किंतु बालों का सफेद होना वृद्धता का सूचक हो यह आवश्यक नहीं। लोग जीर्ण हो जाते हैं किंतु उनमें परिपक्वता नहीं आती तो ऐसे लोगों को हम जरा ग्रस्त तो कहेंगे किंतु वृद्ध नहीं कहेंगे।

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।

यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥

अभिप्राय यह है कि जरा देह की स्थिति है, वृद्धता ज्ञान की स्थिति है।

जरा और वृद्धता में यह भेद होने पर भी दोनों का कोई संबंध न हो—ऐसा नहीं है। मन और शरीर का जो संबंध है उसके कारण जो वृद्धि करते रहते हैं उनका शरीर भी युवा बना रहता है। जिनका वृद्धि करना बंद हो जाता है उनका शरीर भी जीर्ण हो जाता है। जिनके जीवन में कोई प्रयोजन रहता है, उनका जीवन उत्साह से भरा रहता है। जो अपने जीवन को निरर्थक

समझ लेते हैं, वे जल्दी ही जीर्ण होने लगते हैं।

वेद ने एक आज्ञा दी है कि मनुष्य सौ वर्ष तक कर्म करते हुए जीने की इच्छा करे, निकम्मा होकर न बैठ जाये—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।

हम जिस अंग से काम लेना बंद कर देते हैं, वह अंग जीर्ण होने लगता है। योगासनों से हम शरीर के उन भागों को भी सक्रिय बनाते हैं जो भाग सामान्यतः निष्क्रिय रहते हैं। आज के युग में मशीनों के कारण शरीर से बहुत से काम नहीं करने पड़ते। अतः योगासन और व्यायाम और भी अधिक आवश्यक हो गये हैं। पहले पैदल चलना, कुएं से पानी खींचना, हाथ की चक्की से आटा पीसना आदि व्यायाम स्वयं ही हो जाते थे। आज ये सब व्यायाम प्रायः नहीं हो पाते हैं अतः व्यायाम और योगासन अनिवार्य हो गये हैं।

अभिमान विकास को रोकता है

एक बात और ध्यान में देने की है। परिवर्तन प्रकृति का नियम है। जैन कहते हैं कि उत्पाद, व्यय और ध्रुवता सत् का लक्षण है। बौद्ध तो एक कदम और भी आगे हैं, वे कहते हैं कि सत् क्षणभंगुर है—प्रत्येक क्षण परिवर्तनशील है, उसमें स्थिरता है ही नहीं। परिवर्तन दोनों ही दिशाओं में हो सकता है हम विकास की ओर भी बढ़ सकते हैं, हास की ओर भी जा सकते हैं। यदि हम विकास की ओर गति नहीं करेंगे, तो प्रकृति हमें हास की ओर धकेल देगी। जो अपने को पूर्ण मानने का भ्रम पाल लेते हैं, वे विकास की दिशा में बढ़ने का पुरुषार्थ छोड़ बैठते हैं। यही उनके पतन का प्रारम्भ बिन्दु बन जाता है। अभिमान कहें, गौरव कहें, प्रतिष्ठा कहें—ये सब मनुष्य को दुःख की स्थिति में धकेल देते हैं—

अभिमानं सुरापानं

गौरवं घोररौरवं

प्रतिष्ठा शूकरी विष्टा

त्रीणि त्यक्त्वा सुखी भवेत्।

मनु ने मनुष्य को सम्मान से सावधान करते हुए सम्मान को मीठा जहर बताया है—

सम्मानादुद्विजेन्नित्यं विषादिव ब्राह्मणः।

इसके आगे मनु कहते हैं कि अपमान का अमृत के समान स्वागत करना चाहिए—

अपमानस्य चाकाङ्क्षेदमृतस्येव सर्वदा

तपसा निर्जरा

हम सामान्यतः चाहते हैं कि हमें सम्मान मिले किंतु वस्तुतः सम्मान हमारी प्रगति को रोकता है। सम्मान से हम अपने को बहुत बड़ा मानकर पुरुषार्थ करना बंद कर देते हैं। अपमान हमें जगाता है। सामान्यतः मनुष्य अपमान नहीं चाहता किंतु विधायक दृष्टिकोण की बात ही और है। विधायक दृष्टिकोण वाला व्यक्ति उन परिस्थितियों में अनुकूलता ढूंढ लेता है जिन परिस्थितियों को सामान्य व्यक्ति प्रतिकूल मानते हैं। यही तप है। हमने ऊपर संस्कारों की चर्चा की है। तप संस्कारों को तोड़ने का एक सशक्त उपाय है। हमारा संस्कार है कि भोजन खाने से शरीर पुष्ट होता है। अतः हम भोजन किए जाते हैं। भूख न लगी हो तो पाचक चूर्ण खाकर कृत्रिम रूप से भूख लगाते हैं कि भोजन न किया तो शरीर निर्बल हो जाएगा? वस्तुतः यह मान्यता एक पक्षीय है। दूसरा पक्ष यह भी है कि बिना भूख के या भूख से अधिक भोजन किया तो शरीर बीमार हो जायेगा, पर प्रायः हमें सत्य का एक ही पक्ष दिखा करता है, दूसरा पक्ष आँखों से ओझल रहता है। यदि मैं घर वालों से यह कहूँ कि मैं आज भोजन नहीं करूँगा तो सब कहेंगे थोड़ा-सा तो खा ही लो नहीं तो शरीर कैसे चलेगा। एक मनुहार नाम की प्रथा है जिसके अन्तर्गत किसी आत्मीय जन को उसके मना करते रहने पर भी बलपूर्वक भोजन की अधिक सामग्री दे देना आत्मीयता का सूचक माना जाता है।

भोजन के प्रति हमारी आसक्ति शरीर के प्रति हमारी आसक्ति की सूचक है। शरीर की प्रथम आवश्यकता भोजन है। भोजन के बिना शरीर नहीं टिक सकता। अतः हम मान लेते हैं कि भोजन न मिला तो शरीर नहीं रहेगा। यह मान्यता झूठ भी नहीं है। झूठी मान्यता यह है कि यदि शरीर न रहा तो हम भी नहीं रहेंगे। हम सदा भोजन करते रहें तो भी शरीर सदा नहीं रहने वाला है। यदि शरीर के मरने का भय ही हमें भयभीत करता रहा तो उस भय से मुक्ति का कोई उपाय नहीं है। मृत्यु के भय से मुक्ति पाने का एक ही उपाय है कि शरीर की मृत्यु को हम अपनी मृत्यु न मानें। यह तब ही संभव है कि हम द्रष्टा को दृश्य से अलग करके देख सकें। उपवास में हम द्रष्टा के उप (निकट) वास करके दृश्य से अपने को भिन्न करने का अभ्यास करते हैं। उससे देहाध्यास का संस्कार टूटता है।

अनुकूलता ढूंढने का और प्रतिकूलता से बचने का संस्कार छोटे से बड़े तक सभी प्राणियों में है। हम सब अनुस्रोतगामी हैं। दुःख से बचने की और सुख

की खोज में हम आजीवन भटकते रहते हैं—नानाविध कष्ट भी सहते हैं। किंतु प्रतिश्रोतगामी सुखों को छोड़कर दुःखों के बीच प्रफुल्लित रहना सीखता है। इस प्रकार वह अपने उन संस्कारों को तोड़ता है जो हमें परिस्थिति का गुलाम बनाते हैं। यही तप का फल है—**तपसा निर्जरा च**। तप से निर्जरा होती है। निर्जरा का शब्दार्थ तो झाड़ देना है—तप से संस्कार दूर हो जाते हैं। किंतु निर्जरा का दूसरा अर्थ भी संभव है—जरा-हीनता। संस्कारों की गुलामी हमें जरायुक्त कर देती है—कमजोर बना देती है। तप द्वारा हम संस्कारों की गुलामी से मुक्त हो जाते हैं तो जरा (निर्बलता) से भी मुक्त हो जाते हैं—यही निर्जरा है। आत्मा पर कर्ममल चढ़ा है जो चेतना को प्रस्फुटित होने से रोक रहा है, तप से वह कर्ममल दग्ध हुआ तो आत्मा का बल (निर्जरस्त्व) प्रकट हो गया।

अपने को दुःख देने में सुख मानना एक मनोरोग माना जाता है किंतु तप अपने को दुःख देना नहीं है, अपने मनोबल को सुदृढ़ बनाना है। एक पहलवान व्यायाम करके अपने को दुःख नहीं देता अपितु अपने शरीर का बल बढ़ाता है। बैठक निकालना कष्टप्रद भी हो सकता है—यदि किसी को सजा के रूप में बैठक निकालने को कह दिया जाये, किंतु बैठक निकालना यदि स्वेच्छा से किया जाये तो वह व्यायाम है। तप में हमें ऊपर से दिखायी देने वाली क्रिया कष्टप्रद प्रतीत होती है किंतु तप करने वाले का आन्तरिक अभिप्राय आत्मबल की वृद्धि करना होता है। यदि ऐसा नहीं है तो वह तप बाल तप है—अज्ञानी का तप है, ज्ञानी का तप नहीं।

प्रवृत्ति में निवृत्ति

शरीर यात्रा के लिए कर्म आवश्यक है। साधु के भी कर्म छूटते नहीं हैं, गृहस्थ की तो बात ही क्या है। सभी कर्म किसी कामना से प्रेरित होकर किये जाते हैं। कामना तो बंधन का कारण है। अतः कर्म—मात्र बंधन का कारण है—एक अपेक्षा से यह बात सच है। किंतु क्या हम कर्म को अकस्मात् छोड़ सकते हैं? ऐसी स्थिति में शास्त्रकारों ने एक मार्ग निकाला कि कर्म करो किंतु साक्षिभाव को भुलावो मत। कर्म करना—यह प्रवृत्ति है; साक्षिभाव की स्मृति—यह निवृत्ति है। प्रवृत्ति से लोकयात्रा चलेगी, निवृत्ति से हमें अपने अस्तित्व का बोध बना रहेगा। यह साधनामय जीवन शैली का सूत्र है। जब तक सिद्धि प्राप्त नहीं होती तब तक हमें प्रवृत्ति-निवृत्ति के दोनों पंखों पर उड़ान भरनी होगी। प्रवृत्ति के साथ साक्षिभाव बना रहे, अप्रमाद का भाव बना रहे तो प्रवृत्ति निरवद्य है।

पाप वहां है जहां प्रमाद है। जहां प्रमाद नहीं है वहां भय की आवश्यकता नहीं है—*अप्पमत्तस्स णत्थि भयं।*

अखण्ड है काल और कालातीत है समता

साक्षीचेता आत्मा की महिमा विचित्र है। ज्ञान उसका स्वभाव है। उसके ज्ञान की कोई सीमा नहीं है। उसके जानने में काल बाधक नहीं है। हम भूत और भविष्य को इसलिए नहीं जान पाते हैं कि वे हमारे सामने नहीं हैं। हमारे सामने केवल वर्तमान है किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि वर्तमान में भूत और भविष्य का अस्तित्व ही नहीं है। एक शृंखला की कड़ी जो अभिव्यक्त है, वह वर्तमान है। जो कड़ी कभी व्यक्त थी किंतु वर्तमान में अव्यक्त हो गई, वह अतीत है और जो वर्तमान में अव्यक्त है, किंतु भविष्य में व्यक्त हो जायेगी, वह भविष्य है। हमें केवल वर्तमान दिखता है क्योंकि वह व्यक्त है। यदि हमें अव्यक्त को भी जानने की शक्ति प्राप्त हो जाये तो कोई कारण नहीं कि भूत और भविष्य भी न दिखने लगे। ऐसी स्थिति में काल का भूत, भविष्य, वर्तमान के रूप में विभाजन नहीं हो पाता। तब काल एक अखण्ड धारा के रूप में दिखता है जिसमें न भूत है, न भविष्य, न वर्तमान। उस समय काल का अर्थ बदल जाता है। हमारी अल्पज्ञता के कारण हमें भूत, भविष्य और वर्तमान के रूप में काल खण्डित नजर आता है—यह व्यावहारिक काल है। जब काल अखण्ड हो जाता है तो काल का विभाजन नहीं हो पाता—वह पारमार्थिक काल है। हमारा शुद्ध साक्षिरूप कालातीत है—वहां व्यावहारिक काल नहीं है।

व्यावहारिक काल की दृष्टि से कोई परिवर्तन सुखप्रद है, कोई दुःखप्रद है। लाभ सुखप्रद है, हानि दुःखप्रद। जब हमें लाभ दृष्टिगोचर होता है तब हानि नहीं दिखती; जब हानि दिखती है तब लाभ नहीं दिखता। अतः हम कभी सुखी होते हैं, कभी दुःखी। यदि हमें लाभ हानि एक साथ दिखने लगे तो सुख दुःख एक दूसरे को काट देंगे—न्यूट्रलाइज कर देंगे। उस स्थिति में न हमें सुख होगा न दुःख। यही समता है, यही धर्म का प्रारम्भ बिंदु है और यही धर्म का चरम बिंदु है—**समया धम्ममुदाहरे मुणी।** समता की स्थिति में हमें परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है किंतु उस परिवर्तन के साथ अनुकूलता या प्रतिकूलता का भाव नहीं जुड़ता। तब द्रष्टा दृश्य से विचलित नहीं होता। हम अल्पज्ञ हैं अतः हमें हानि लाभ एक साथ नहीं दिख सकते किंतु अपने अनुभव से हम यह जान तो सकते ही हैं कि न हानि हमेशा रहने वाली है न लाभ। यहां सब कुछ अनित्य है।

काल चक्र का आवर्तन

काल की एक अवधारणा रेखाकार है। उसमें सदा आगे की ओर ही गति होती है। काल की दूसरी अवधारणा वर्तुलाकार है। उसमें गति आगे भी होती है और पीछे भी; हम शिशु से युवा तथा युवा से बूढ़े हो जाते हैं यह आगे की ओर गति है किंतु जब मरने के बाद अगले जन्म में हम पुनः शिशु बन जाते हैं तो यह काल में पीछे की ओर गति करने का उदाहरण हुआ। ऐसा इसलिए होता है कि पुनर्जन्म का सिद्धान्त काल की वर्तुलाकार गति वाले सिद्धान्त पर आधृत है। सतयुग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग के अनन्तर पुनः सतयुग आ जाता है—यह काल में पुनरावर्तन हुआ, जो पहले था वही पुनः आ गया। जैन अवधारणा में उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी के रूप में काल की अवधारणा में भी यही होता है। काल लौटता है तो काल के साथ जुड़ी घटनाओं की भी पुनरावृत्ति हो जाती है। प्रत्येक काल चक्र में चौबीस ही तीर्थंकर होते हैं। यह इतिहास की पुनरावृत्ति है। वेद में एक रोचक प्रश्न उपस्थित हुआ। वेद में कुछ इतिहास की बातें आ गई हैं। प्रश्न हुआ कि वेद तो अनादि हैं, फिर उनमें इतिहास कहां से आ गया? उत्तर मिला कि वेद में जिस इतिहास का वर्णन है, यह इतिहास भी अनादि है—प्रत्येक युग में उस इतिहास की पुनरावृत्ति अनादिकाल से हो रही है। इस संसार में नया कुछ भी नहीं है—ऐसा कुछ भी नहीं है जो पहले न हो चुका हो—**न हि कदाचिदनीदृशं जगत्।**

अजरता अमरता का सूत्र

आज विज्ञान ऐसी बातें करने लगा है कि जो पुराणों में वर्णित घटनाओं से भी अधिक अविश्वसनीय हैं। आईस्टीन का कहना था कि दो जुड़वा शिशुओं में से एक पृथ्वी पर ही रहे और दूसरा प्रकाश की गति से अन्तरिक्ष में यात्रा करने लगे तो कुछ वर्षों के बाद उन दोनों की अवस्था एक जैसी नहीं रहेगी। पृथ्वी वाला बच्चा हमारे वर्षों के हिसाब से बड़ा हो जायेगा किंतु प्रकाश की गति से गति करने वाला शिशु शिशु ही रह जायेगा। यह काल की सापेक्षता सिद्ध करता है। कर्म के क्षेत्र में काल गति करता है, ज्ञान के क्षेत्र में काल स्थिर है। हम शरीर से प्रवृत्ति करते हैं तो शरीर बूढ़ा हो जाता है—काल उस पर अपना प्रभाव दिखा सकता है किंतु हम आत्मा से जानते हैं तो आत्मा बूढ़ी नहीं होती, काल उस पर अपना प्रभाव नहीं दिखाता। जो आत्मा में रमण करते हैं—राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर—उनकी मूँछ, दाड़ी नहीं दिखायी जाती। ये सभी महापुरुष लम्बी आयु वाले थे। युवा होने पर तो इनकी मूँछ, दाड़ी भी आयी

होगी और बूढ़ा होने पर सफेद भी हुई होगी। किंतु मूर्तिकार तथा चित्रकार ने इन्हें सदा कुमार दिखाना ही पसन्द किया क्योंकि ये आत्माराम थे, शरीर में इनकी आत्म बुद्धि थी ही नहीं फिर इनके शरीर के बुढ़ापे को दिखाना इनके प्रति न्याय न होता, अतः इन्हें सदा कुमार ही दिखाया गया। देहाध्यास से मुक्त रहना अजरत्व का सूत्र है और कालक्रम में घटने वाली घटनाओं को अपने में घटने वाली घटनायें न मान लेना अमरत्व का सूत्र है। क्योंकि जब तक हम कालचक्र में घूमने के साथ अपना तादात्म्य संबंध मानते रहेंगे तब संसार चक्र से नहीं निकल पायेंगे और **“पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्”** का नियम हम पर लागू होता रहेगा। इस नियम के ऊपर उठ जाना ही अमरत्व है, वही मोक्ष है।

महाप्रज्ञ उवाच

एक दृष्टि से शरीर आत्मा है। जब तक उसमें प्राण शक्ति का संचार है, तब तक हम शरीर को अनात्मा नहीं कह सकते। अंगुली इसलिए हिलती है कि वह आत्मा है। क्या शरीर का कोई ऐसा प्रदेश है, जहां आत्मा न हो? क्या शरीर का एक भी ऐसा परमाणु है जो आत्मा से भावित न हो? आत्मा है, इसलिए आदमी खा रहा है, बोल रहा है, श्वास का स्पंदन हो रहा है। आत्मा के चले जाने पर आदमी न खा सकता है, न बोल सकता है, और न श्वास ले सकता है। श्वास आत्मा है, भाषा आत्मा है, आहार आत्मा है और शरीर आत्मा है। आहार एक पर्याप्ति भी है और प्राण-शक्ति भी है। शरीर एक पर्याप्ति भी है और प्राण-शक्ति भी है। भाषा एक पर्याप्ति है, तो एक प्राण-शक्ति भी है। मन एक पौद्गलिक शक्ति है, तो वह एक प्राण-शक्ति भी है। हम शरीर और आत्मा को बांट नहीं सकते।

श्वास बाएं नथुने से आता है, दाएं नथुने से आता है, दोनों नथुनों से आता है, क्यों आता है और क्या परिणाम होते हैं, कोई डाक्टर नहीं बता सकता। परिणाम निश्चित है कि बाएं से आप श्वास लें, शरीर में ठंडक व्याप्त हो जाती है, दाएं से श्वास लें, शरीर में गर्मी व्याप्त हो जाएगी। दोनों से श्वास लें, सुषुम्ना चले, आपका चित्त शांत हो जाएगा, विकल्प शांत हो जायेंगे। क्यों होता है ऐसा, कोई भी शल्य-चिकित्सक या फिजिशियन इसकी व्याख्या नहीं दे सकता। अध्यात्म का मर्मज्ञ इसकी व्याख्या दे सकता है।

हृदय में प्राण का एक प्रकार का प्रवाह है, नासाग्र में प्राण का एक प्रकार का प्रवाह है, नाभि में प्राण का एक प्रकार का प्रवाह है, गुदामूल में प्राण का एक प्रकार का प्रवाह है और हमारी समूची त्वचा में प्राण का एक प्रकार का प्रवाह है। प्राण में कई प्रवाह हैं। कोई भी डाक्टर नहीं जानता कि ये प्राण के

प्रवाह क्यों हैं ? हैं या नहीं हैं ? अभी यह विज्ञान का विषय ही नहीं बना है।

जब जब रसायन बदलते हैं, जब जब विद्युत् की धारा का संतुलन बिगड़ता है, तब तब शरीर में परिवर्तन आ जाता है। एक आदमी को चौबीस घंटों एक जैसा नहीं पाया जा सकता, न मानसिक दृष्टि से, न शारीरिक दृष्टि से।

शरीर में अनगिनत रसायन हैं। अनेक वैज्ञानिकों ने खोजने के बाद बताया कि व्यक्ति जो सोचता है, चिन्तन करता है, उसके रसायन सारे शरीर में जमा हो जाते हैं। हमारे एक बाल में सैकड़ों प्रकार के रसायन हैं। सिर के एक बाल में वे सारे रसायन हैं, जो व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति देते हैं। सारा शरीर रसायनों से भरा पड़ा है। दस, बीस या पचास दिन की शरीर प्रेक्षा से उन सब रसायनों को नहीं जाना जा सकता। निरन्तर प्रेक्षा करने से ही उनसे परिचित हो सकते हैं।

सारा जीवन है नाड़ी संस्थान या तंत्रिका तंत्र में। सारा जीवन है ग्रंथि में। हमें मेरुदण्ड, मस्तिष्क और ग्रंथि तंत्र इन तीनों पर नियंत्रण पाना है। मस्तिष्क पर नियंत्रण होगा, तो संवेदनों पर अपने आप नियंत्रण हो जाएगा। मेरुदण्ड पर नियंत्रण होगा, तो संवेग या कषाय पर नियंत्रण हो जाएगा। कषाय पर नियंत्रण करने वाला मस्तिष्क नहीं है।

पृष्ठरज्जू के निचले सिरे से मस्तिष्क तक का स्थान चैतन्य का मूल केन्द्र है। आत्मा की अभिव्यक्ति का यही स्थान है। यही चित्त का स्थान है। यही मन का और इन्द्रियों का स्थान है। संवेदन, प्रतिसंवेदन, ज्ञान सारे यहीं से प्रसारित होते हैं, शक्ति का यही स्थान है। ज्ञानवाही और क्रियावाही तंतुओं का यही केन्द्र-स्थान है।

ऊर्जा के नीचे जाने से पौद्गलिक सुख की अनुभूति होती है। ऊर्जा के ऊपर जाने से अध्यात्म सुख की अनुभूति होती है।

नाड़ी-संस्थान जितना मनुष्य का शक्तिशाली है, उतना किसी भी प्राणी का शक्तिशाली नहीं है। जितने प्राणी हैं, उनमें सबसे अधिक शक्तिशाली नाड़ी-संस्थान मनुष्य को मिला है। पशु का नाड़ी-संस्थान उतना कार्यक्षम नहीं है, शक्तिशाली नहीं है। कहा जाता है, देवता भी मनुष्य होना चाहते हैं। मनुष्य होकर साधना करना चाहते हैं। मनुष्य के नाड़ी-संस्थान में दोनों विशेष प्रकार की शक्तियां हैं। ज्ञान की भी शक्ति है और कार्य की भी शक्ति है। उसके ज्ञानवाही तंतु इतने शक्तिशाली हैं कि वह बड़ा ज्ञान उपलब्ध कर सकता है।

हमारा ज्ञान बहुत छोटा ज्ञान है। हम मानते हैं कि आज का युग वैज्ञानिक युग है और इसमें ज्ञान का बहुत विकास हुआ है, किंतु हमारे नाड़ी संस्थान में ज्ञान के अवतरण की जितनी क्षमता है, उसके अनुपात में कुछ अवतरित नहीं हुआ है। आज भी मनुष्य बहुत छोटे ज्ञान तक ही पहुंचा है। इन्द्रियों से परे जो अतीन्द्रिय चेतना है, वह अतीन्द्रिय चेतना जगाई जा सकती है। मनुष्य अतीन्द्रिय चेतना को जगा सकता है और इन्द्रियों की सीमाओं को लांघ कर उन सूक्ष्म शक्तियों को देख सकता है जिन्हें इन्द्रियां कभी भी नहीं देख पातीं। वह इन्द्रियां मन और बुद्धि इन सारी सीमाओं को लांघ कर शक्ति का साक्षात्कार कर सकता है।

साधना के द्वारा यदि आंख की शक्ति का विकास किया जाए, तो हम बहुत-बहुत दूरी तक स्थित पदार्थों को भी साक्षात् देख सकते हैं। इससे दूरदर्शन संभव हो सकता है। व्यवधान होने पर भी देखा जा सकता है। स्थूल को भी देखा जा सकता है और सूक्ष्म को भी देखा जा सकता है।

सुख-दुख क्या है? इसे समझना होगा। स्पंदनों के साथ मन का योग सुख है और स्पंदनों के साथ मन का योग दुख है। स्पंदनों के साथ यदि मन का योग नहीं होता है तो न सुख का अनुभव होता है और न दुख का अनुभव होता है। प्रिय स्पंदनों के साथ मन का योग होता है तो सुख और अप्रिय स्पंदनों के साथ मन का योग होता है तो दुख। सुख-दुख की जो कल्पना है वह योग के साथ होती है। मन को न जोड़ें, स्पन्दन होते रहें, कोई बात नहीं है, न सुख होगा न दुख।

वर्तमान शरीर में क्या-क्या हो रहा है, उसे देखें, कौन-सा पर्याय चल रहा है? कौन-सा पर्याय नष्ट हो रहा है? कौन-सा पर्याय उत्पन्न हो रहा है? क्या-क्या जैविक और रासायनिक परिवर्तन घटित हो रहा है? हृदय का संचालन कैसे हो रहा है? शरीर के रसायन और विद्युत-प्रवाह किस प्रकार के हो रहे हैं? इन सारी घटनाओं को देखना, वर्तमान को देखना है। शरीर-प्रेक्षा का अभ्यास वर्तमान को देखने का अभ्यास है—न अतीत में जीना और न भविष्य में जीना—केवल वर्तमान में जीना।

प्रयत्न है जीवन की यात्रा को चलाने के लिए। अप्रयत्न है जीवन की सच्चाई को पाने के लिए। प्रवृत्ति है जीवन की यात्रा के लिए और निवृत्ति है जीवन के सत्य को पाने के लिए। जो लोग कर्म करते हैं, किंतु जीवन की सच्चाई को उपलब्ध नहीं कर सकते। जो व्यक्ति जीवन की सच्चाई को पाने के लिए अपनी यात्रा शुरू करता है, वह जीवन की यात्रा को चलाने के लिए

कर्म भी करता है। प्रवृत्ति हमारी जीवन यात्रा का साधन है, साध्य नहीं है। ध्यान करने वाला व्यक्ति प्रवृत्ति को साधन मानता है।

ध्यान से स्नायविक तनाव, मानसिक तनाव और भावनात्मक तनाव कम होते हैं, स्वास्थ्य सुधरता है, रक्तचाप में अंतर आता है, किंतु यदि ध्यान का केवल यही उद्देश्य हो तो उसकी उपयोगिता सीमित हो जाएगी। किंतु हमने ध्यान का जो उपक्रम प्रारम्भ किया है, वह कुछ विशिष्ट उद्देश्य से किया गया है। उसमें शारीरिक स्वास्थ्य भी एक है। शारीरिक स्वास्थ्य भी कम मूल्यवान् नहीं है, किंतु सबसे अधिक मूल्यवान् है अपने अस्तित्व का बोध। दुःखों को समाप्त करने का एक मात्र साधन है—अस्तित्व की उपलब्धि।

अस्तित्व के बोध का अर्थ है स्वयं का अनुभव, चेतना के संवेदनों का अनुभव, निर्मलीकरण और ऊर्ध्वीकरण। आज धार्मिक लोग आत्मा के प्रश्न को शास्त्रों के माध्यम से हल करना चाहते हैं, तर्क के द्वारा समाधान देना चाहते हैं, आत्मा को वाचिक प्रयत्नों के द्वारा, वाङ्मय द्वारा जानना चाहते हैं, यह विचित्र स्थिति है। एक ओर यह कहा जाता है कि आत्मा तर्कातीत, पदातीत और शब्दातीत सत्य है, दूसरी ओर हम उसे तर्क के द्वारा, पद के द्वारा, शब्द के द्वारा पाना चाहते हैं। यह कितना विरोधाभास है। आत्मा को हम स्वयं खोजें। जब तक हम स्वयं नहीं खोजेंगे, तब तक पता नहीं चलेगा। ध्यान का प्रयोग किया, अपनी अन्तश्चेतना को जगाया, साक्षात्कार किया और जाना कि आत्मा है, तब वह अपनी सच्चाई बन जाती है, अनुभव की सच्चाई बन जाती है।

हमने हजारों प्रकार के भय पाल रखे हैं। भय इसलिए पल रहे हैं कि उनकी पृष्ठभूमि में ममत्व की भावना है। हम इतना घबरा रहे हैं कि जो प्रिय है वह छूट न जाए।

विषयों के संरक्षण का ध्यान, पदार्थों को प्राप्त करने का ध्यान तथा उसकी सुरक्षा का ध्यान—यह ध्यान निरन्तर चल रहा है, दिन-रात चल रहा है। यह ध्यान सोते भी चलता है और जागते भी चलता है। प्रेक्षा-ध्यान केवल जागृत अवस्था में ही चलता है, सोते नहीं चलता। आर्त और रौद्र ध्यान निरन्तर चलने वाले ध्यान हैं। आप इस प्रकार के ध्यान के अभ्यस्त हैं। शरीर-प्रेक्षा द्वारा अनुराग की दिशा जो व्यक्ति के साथ, पदार्थ के साथ जुड़ रही है उसको बदलकर अपने अस्तित्व के साथ जोड़ देना है। हमारा सारा आकर्षण, हमारी सारी श्रद्धा पदार्थ के प्रति है, दूसरे के प्रति है, अपने प्रति नहीं।

क्या जो आर्त्त और रौद्र ध्यान से हटकर धर्म ध्यान में प्रवेश करता है—वह पदार्थ से विमुख हो जाता है? ऐसा नहीं होता। क्या ध्यान करने वाला व्यक्ति गृहस्थी को नहीं निभाएगा? रोटी नहीं खाएगा? पानी नहीं पिएगा? कपड़े नहीं पहनेगा? मकान नहीं बनाएगा? परिवार का भरण-पोषण नहीं करेगा? पदार्थ को नहीं छोड़ा जा सकता, उसके प्रति रहे मिथ्या दृष्टिकोण को छोड़ा जा सकता है। हम जो दिशा-परिवर्तन ध्यान द्वारा चाहते हैं, वह है—पदार्थ-पदार्थ रहे, व्यक्ति व्यक्ति रहे। पदार्थ और व्यक्ति के बीच संबंध स्थापित हो, परस्पर घनिष्ठता न हो। हमारी सम्यग् दृष्टि जागे। हम पदार्थ को पदार्थ की ही दृष्टि से देखें, उसकी उपयोगिता को समझें, उसका उपयोग मात्र करें, किंतु उसके साथ ममत्व नहीं करें, एकता की अनुभूति न करें। पदार्थ नहीं मिटेगा। न पदार्थ को मिटाना है और न सम्पत्ति को मिटाना है। किंतु पदार्थ और संपत्ति के साथ जो हमारा अनुबंध है, उसे तोड़ना है।

मन स्वतंत्र नहीं है। शरीर मन को पैदा करता है। वचन स्वतंत्र नहीं है। शरीर वचन को पैदा करता है। हमारा स्वर तंत्र वाणी को पैदा करता है। हमारा श्वास तंत्र श्वास के क्रम को चलाता है। श्वास स्वतंत्र नहीं है। शरीर श्वास को उत्पन्न करता है। हमारा मस्तिष्क मन को पैदा करता है। इन सबको पैदा करने की पूरी की पूरी व्यवस्था हमारे शरीर में है। शरीर इन सब को पैदा करता है। यह शरीर शास्त्रीय दृष्टिकोण है। अध्यात्म का शास्त्रीय दृष्टिकोण दूसरा है। जैन आगमों के अनुसार जितने परमाणु, जितने पुद्गल बाहर से लिये जाते हैं, उनको लेने का एकमात्र माध्यम है—हमारा शरीर। वास्तव में चंचलता का एकमात्र सूत्र है—शरीर। शरीर वचन के परमाणु लेता है। वचन के परमाणुओं को भाषा के रूप में बदलता है। जब वचन के परमाणुओं का विसर्जन होता है, विस्फोट होता है, तब भाषा शब्द में सुनाई देती है। उस क्षण का नाम “वचन” है। शेष सारा काम शरीर को ही करना पड़ता है। सारी की सारी वचन की प्रक्रिया शरीर निभाता है, पूरा उत्तरदायित्व शरीर का है। इसलिए वचन को शरीर से सर्वथा पृथक् नहीं किया जा सकता। शरीर का एक भाग है मन। मन के परमाणुओं को शरीर ग्रहण करता है। मन के परमाणुओं को चिन्तन के रूप में शरीर बदलता है। केवल मानसिक परमाणुओं का विसर्जन होता है, उस क्षण का नाम है—मन, और सारा दायित्व यह शरीर निभाता है। सारा चिन्तन का भार, यह शरीर निभाता है। वास्तव में एक ही तत्व है—शरीर। श्वास, मन, वचन—ये सारे शरीर के ही एक भाग मात्र हैं। इनका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। ऐसा नहीं हो सकता कि शरीर के बिना

कोई चिंतन करे। अशरीरी चिंतन, अशरीरी वाणी और अशरीरी श्वास कभी भी उपलब्ध नहीं होगा। यह सब शरीर के द्वारा ही घटित हो रहा है। इस परम सत्य को जान लेने के बाद उस उत्तर के लिए जिज्ञासा शेष नहीं रहेगी कि चित्त की शुद्धि के लिए शरीर की स्थिरता क्यों जरूरी है? जब शरीर चंचल होता है तो मन की चेतना बाहर जाती है। शरीर जैसे ही स्थिर हुआ, निश्चल हुआ, शांत वातावरण, इन्द्रिय चेतना लौट आती है, मानसिक चेतना भी लौट आती है। प्रतिक्रमण शुरू हो जाता है। चेतना का बाहर जाना अतिक्रमण है, चेतना का फिर अपने भीतर आ जाना प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण अपने आप शुरू हो जाता है।

हम जब प्रतिक्रमण की स्थिति में होते हैं, चेतना तब भीतर लौटती है और बाहर से चेतना का सम्पर्क टूटता है। चित्त जब भीतर ही देखने लगता है, अपनी सारी शक्ति का नियोजन भीतर होता है, उस समय सबसे पहले श्वास का दर्शन होता है, सहज भाव से श्वासप्रेक्षा हो जाती है। जरूरत नहीं सुझाव की। कुछ कहने की जरूरत नहीं, चेतना भीतर लौटती, पहला कार्य होगा श्वास दर्शन। अपने आप पता चलेगा कि इस शरीर के भीतर एक घटना घट रही है। पहली घटना—शरीर स्थिर, शांत किंतु श्वास चल रहा है, बहुत मंद गति से चल रहा है। दीर्घश्वास अपने आप हो जाएगा। दीर्घश्वास, मंदश्वास—यह सहज नियम है शरीर का। जब शरीर की चंचलता होगी, श्वास छोटा होगा। शरीर की स्थिरता होगी श्वास लम्बा हो जाएगा, दीर्घ हो जाएगा। श्वास की स्थिरता शरीर की स्थिरता पर निर्भर है। शरीर जितना चंचल होता है, श्वास की गति बढ़ती जाती है, संख्या बढ़ती जाती है, श्वास छोटा होता चला जाता है। एक मिनट में १७ श्वास लेने वाला व्यक्ति जब शरीर की चंचलता को बढ़ाता है, तो श्वास की संख्या भी २०, २४, ३० से आगे बढ़ती चली जाती है। ६०, ७० तक भी चली जाती है। शरीर शांत हुआ, श्वास की संख्या कम होने लग जाएगी, लम्बाई बढ़ जायेगी, श्वास अपने आप मंद हो जाएगा। यह श्वास की मंदता का नियम स्थिरता के साथ जुड़ा हुआ है।

शरीर प्रेक्षा की बात सुनकर आपको अटपटा सा लगता होगा। आए थे ध्यान सीखने और हमें सिखाया जा रहा है शरीर को देखना। ललाट और भौहों को देखो, आंख और कान देखो। यह सब एक कांच में देखा जा सकता है। दर्पण में शरीर को देखने वाले चमड़ी को देखते हैं, रंगरूप को देखते हैं, आकृति को देखते हैं, बस इतना ही देख पाते हैं। क्या कभी आपने चमड़ी के भीतर क्या है, देखा है? क्या प्राण के प्रवाह से होने वाले प्रकम्पनों और स्पंदनों

को पकड़ा है? नहीं, इन्हें जानने का प्रयत्न कौन करे? प्राण के नीचे जो चेतना की सक्रियता है, चेतना का प्रवाह है, आदमी कभी उस ओर ध्यान नहीं देता। शरीर प्रेक्षा इसलिए नहीं की जाती कि रंगरूप को देखा जाए, पर इसलिए की जाती है कि इस मांस और चमड़ी के पुतले के भीतर जो प्राण और चेतना का प्रवाह है, उससे सम्पर्क स्थापित हो। उसका साक्षात् अनुभव करने का एक उपाय है—शरीर प्रेक्षा। यह समाधि तक पहुंचने का उपाय है। हम इस उपाय का आलम्बन कर लें।

चेतना के बाह्यतम स्तर से प्रारम्भ कर, हम क्रमशः भीतर से भीतर गहरे में उतरें। अर्थात् हम स्थूल से सूक्ष्म की ओर चलें। पहले शरीर के स्थूल कम्पनों का साक्षात्कार करें। फिर शरीर के भीतर होने वाले सूक्ष्म परिणामों का साक्षात्कार करें, रसायनों का साक्षात्कार करें। शरीर को संचालित करने वाली विद्युत् का साक्षात्कार करें, फिर उन सबको संचालित करने वाली प्राण-धारा का साक्षात्कार करें। जब इन सबका साक्षात्कार करते हैं, तो सूक्ष्म शरीर का साक्षात्कार होने लग जाता है। उसके पश्चात् अतिसूक्ष्म-शरीर में होने वाले प्रकम्पनों का भी साक्षात्कार होने लगता है; कर्म-संस्कारों का साक्षात्कार होने लग जाता है। अन्ततोगत्वा चैतन्य का साक्षात्कार होता है, आत्मा का दर्शन होता है।

शरीर को तब देख सकते हैं जब शरीर-प्रेक्षा का अभ्यास करें। जो व्यक्ति शरीर-प्रेक्षा का अभ्यास नहीं करता, वह शरीर को नहीं देख सकता। एक-एक अवयव पर चित्त को ले जायें। बाहर और भीतर चित्त को टिकायें, एकाग्र करें। शरीर के भीतर जो प्राण के प्रकम्पन हैं उनकी प्रेक्षा करें, उनको देखें।

शरीर का जितना आयतन है, उतना ही आत्मा का आयतन है। जितना आत्मा का आयतन है उतना ही चेतना का आयतन है। इसका तात्पर्य यह है कि शरीर के कण-कण में चैतन्य व्याप्त है। इसलिए शरीर के प्रत्येक कण में संवेदन होता है। संवेदन से चित्त अपने स्वरूप को देखता है, अपने अस्तित्व को जानता है, और अपने स्वभाव का अनुभव करता है। शरीर में होने वाले संवेदन को देखना, चैतन्य को देखना है। उसके माध्यम से आत्मा को देखना है।

शरीर के स्थूल और सूक्ष्म स्पंदनों को देखते हैं, शरीर के भीतर जो कुछ है उसे देखने का प्रयत्न करते हैं। हमारी कोश-स्तरीय चेतना, जो हर कोश के पास है, उसे हम प्रेक्षा के द्वारा जागृत करते हैं। चेतना के जो कोश सोए हुए

हैं, कुण्ठित हैं, उन्हें जागृत करते हैं। शरीर का प्रत्येक कण चित्त के निर्देश को स्वीकार करने के लिए तत्पर है कि वह जाग जाए और मन के साथ उसका संबंध सूत्र जुड़ जाए। किंतु जब जागने का प्रयत्न नहीं होता तब वह मूर्च्छा में रह जाते हैं और ऐसी स्थिति में चित्त का निर्देश पहुंच नहीं पाता, वे निष्क्रिय ही बने रह जाते हैं। स्थूल शरीर के भीतर तैजस और कर्म ये दो सूक्ष्म शरीर हैं, उनके भीतर आत्मा है। स्थूल शरीर की क्रियाओं और संवेदनों को देखने का अभ्यास करने वाला क्रमशः तैजस और कर्म शरीर को देखने लग जाता है। शरीर प्रेक्षा के दृढ़ अभ्यास और मन के सुशिक्षित होने पर शरीर में प्रवाहित होने वाली चैतन्य की धारा का साक्षात्कार होने लग जाता है। जैसे-जैसे साधक स्थूल से सूक्ष्म दर्शन की ओर आगे बढ़ता है वैसे-वैसे उसका अप्रमाद बढ़ता जाता है।

शरीर प्रेक्षा का अभ्यास इसलिए करते हैं कि कोई ऐसी घटना घटित हो जाए जिससे शरीर के भिन्न अपने चैतन्य का बोध हो जाए, उसकी झलक मिल जाए। शरीर को देखते-देखते प्राण का प्रवाह पकड़ में आ जाए। प्राण के प्रवाह को देखते-देखते सूक्ष्म शरीर के प्रकम्पन पकड़ में आ जाए और उसके आगे सूक्ष्मतरंग कर्म शरीर के प्रकम्पन अनुभव में आने लग जाए। चैतन्य के स्पंदन भी अज्ञात न रहें। जब आनन्द का वह महास्रोत हमारे पकड़ में आ जाता है तब बाहर का जगत् फीका लगने लग जाता है। हमारी समस्याएं इसलिए उभरती हैं कि हम बाह्य जगत् में अधिक जीते हैं, आंतरिक जगत् में जीने का प्रयास नहीं करते। जब तक भीतर के दरवाजे नहीं खुलते तब तक हमारी अपार संपदा का भान नहीं होता। भीतर के शब्द इतने सुखद हैं, भीतर की गंध इतनी मीठी है, भीतर का रूप इतना मोहक है, इनका हमें तब तक अनुभव नहीं होता, जब तक हम भीतरी दरवाजों और खिड़कियों को खोल नहीं देते। जब तक भीतर के शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श और आनन्द का अनुभव नहीं होता, तब तक आदमी कितना ही पढ़े, ज्ञान करे, सुने, उसका आकर्षण बाह्य जगत् में ही होगा। इस आकर्षण को तोड़ा नहीं जा सकता। धर्म का कितना ही उपदेश सुने, धर्म के क्रियाकाण्डों की उपासना करे, किंतु जब तक भीतर का जागरण घटित नहीं होगा, भीतर की झलक नहीं मिलेगी, तब तक आकर्षण बाहर ही जाएगा, भीतर नहीं। कान की बात कान तक पहुंच कर रह जाएगी, और मस्तिष्क के तंतुओं को झंकृत कर समाप्त हो जाएगी। वह भीतर तक नहीं पहुंच सकेगी। भीतर का साम्राज्य अनोखा है, उसका अपना सिद्धान्त है, नियम है, अनुभव है, उसकी व्याख्या और परिभाषा दूसरी है।